

ISSN 0975-850X

**अनुसंधान** शोध त्रैमासिक  
वर्ष : 4, अप्रैल - जून 2013

**सम्पादक :**  
**डॉ. शगुफ़ता नियाज़**  
असि. प्रोफेसर हिन्दी,  
वीमेन्स कॉलेज,  
अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़

**सलाहकार सम्पादक:**  
**डॉ. एम. फ़ीरोज़ अहमद**  
हिन्दी विभाग,  
हलीम मुस्लिम पी. जी. कॉलेज,  
चमनगंज, कानपुर

**सम्पादकीय सम्पर्क :**  
205- ओहद रेजीडेंसी, नियर पान वाली कोठी,  
दोदपुर रोड, सिविल लाइन,  
अलीगढ़-202002

**मोबाइल : 9719304668**  
E-mail : vangmaya@gmail.com  
shaguftaniyaz@gmail.com

**सहयोग राशि :**

एक प्रति : 40/- रु., वार्षिक शुल्क संस्थाओं के लिए : 220/- रु., द्विवार्षिक शुल्क संस्थाओं के लिए : 380/- रु., आजीवन सदस्य : 1500/- रु., संस्थाओं के लिए आजीवन : 2,000/-

**परामर्श मण्डल :**

डॉ. प्रेमकुमार (अलीगढ़),  
प्रो. रामकली सराफ (बी. एच. यू.),  
मूलचन्द सोनकर (वाराणसी),  
डॉ. मेराज अहमद (अलीगढ़)

**सह-सम्पादक :**

विनीत कुमार (अलीगढ़)  
सलीम मुजावर  
असि. प्रोफेसर हिन्दी, वी.पी. नाइक कॉलेज,  
गुलबर्गा, कर्नाटक फोन-9480781006

**कानूनी सलाहकार :**

एम. एच. खान, एडवोकेट (हाईकोर्ट, इलाहाबाद)  
एम. ए. खान, एडवोकेट (हाईकोर्ट, इलाहाबाद)  
डॉ. संजय सिंह, एडवोकेट (अलीगढ़)

**सम्पादन सहयोग :**

भानु चौहान, यूसुफ अली (अलीगढ़)

**सम्पादन/संचालन :**

अनियतकालीन, अवैतनिक और अब्यावसायिक  
रचनाकार की रचनाएँ उसके अपने विचार हैं।  
रचनाओं पर कोई आर्थिक मानदेय नहीं दिया जाएगा।  
लेखकों, सदस्यों एवं मित्रों के आर्थिक सहयोग से पत्रिका प्रकाशित होती है।  
उनसे सम्पादक-प्रकाशक का सहमत होना अनिवार्य नहीं है।  
किसी विवाद के लिए न्याय क्षेत्र अलीगढ़ होगा।

---

**शुल्क भेजने का पता :**

**मनीआर्डर या बैंक ड्राफ्ट :** डॉ. शगुफ़ता नियाज़ के नाम  
205- ओहद रेजीडेंसी, नियर पान वाली कोठी, दोदपुर रोड, सिविल लाइन, अलीगढ़-202002

---

डॉ. शगुफ़ता नियाज़ की ओर से डॉ. शगुफ़ता नियाज़ द्वारा प्रकाशित, डॉ. शगुफ़ता नियाज़  
द्वारा मुद्रित तथा रुचिका प्रिंटर्स दिल्ली में मुद्रित एवं **बी-4, लिबर्टी होम्स, अब्दुल्लाह कॉलेज रोड,  
अलीगढ़-202002** से प्रकाशित।

## सम्पादकीय

अनुसंधान शोध पत्रिका के पाठकों को अभिवादन। आप सबके सहयोग से यह पत्रिका चौथे वर्ष में प्रवेश कर चुकी है। पाठकों की प्रतिक्रियाओं से हम इसमें अपेक्षित सुधार भी कर रहे हैं।

आर्थिक सहयोग के बिना पत्रिका को निरंतर निकालते रहना वर्तमान हिंदी के संदर्भ में जहाँ पढ़ने वालों की संख्या बहुत अधिक नहीं है अत्यंत दुष्कर कर्म है। परंतु पाठकों को यह जानकर हर्ष होगा कि वित्तीय वर्ष के लिए (2013-2014) अनुसंधान को एच. आर. डी., नई दिल्ली में खरीद की स्वीकृति मिल गई है। जिससे हमारी अनुसंधान टीम को बड़ा बल मिला है। जिसके फलस्वरूप अब हम इसके वाह्य स्वरूप को भी बदलने के लिए प्रयासरत हैं। परंतु आन्तरिक गुणवत्ता जो कि नए लेखक/लेखिकाओं के हाथों में है। उनसे विनम्र अनुरोध हैं वह शोध पत्र के मानकों के आधार पर ही हमें शोध पत्र भेजें। जिससे इसकी तुलना माँग पूर्ति की आवश्यकताओं को पूरा करने वाली पत्रिकाओं से न की जा सके। आपके भेजे हुए लेख इस पत्रिका की वह ऊष्मा है जो इसे गति देती है। अतः स्तर को बनाए रखने में आपसे सहयोग अपेक्षित है।

अप्रैल-जून, 2013 अंक में जिन शोध पत्रों को सम्मिलित किया गया है। उनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है। (श्रीमती) के. के. रवि का शोध आलेख - हिंदी अस्मितामूलक पत्रकारिता का संकट एवं चुनौतियां जैसे गंभीर समस्या को लेकर लिखा गया है। लेखिका ने हिंदी अस्मिता की पत्रिका के संकट को उठाते हुए दलित, अल्पसंख्यक, राजनीतिज्ञों, आदिवासियों और नारी समुदाय आदि की अस्मिता पर भी सवाल उठाए हैं जो वर्तमान संदर्भ में महत्वपूर्ण हैं।

बच्चन कृत मधुशाला का अनुभूति पक्ष एक अध्ययन में लेखक ने मधुशाला काव्य कृति में व्यक्त प्रकृति सौंदर्य, मानव सौंदर्य, नारी सौंदर्य व आध्यात्मिक सौंदर्य की परख की है। इस लेख में महत्वपूर्ण स्थापना ये है कि मधुशाला मदिरा के संदर्भ में नहीं है वरन् मधुशाला का मूल भाव समाज, धर्म व रूढ़ियों को तोड़ने वाला है।

डॉ. रीतू बहनोट के लेख-महिला लेखन : विविध पहलू में नारी विमर्श के विभिन्न आयामों को उठाया है जो आज की नारी के संदर्भ में महत्वपूर्ण है।

निधि नागर अपने लेख - छायावादोत्तर हिंदी कविता और जीवन मूल्य जैसे महत्वपूर्ण विषय को उठाया है। दिनकर के रश्मिरथी के संदर्भ में जो कि प्रश्नचिह्नों का काल था। रश्मिरथी को आधुनिक चेतना के जीवन मूल्यों का वाहक भी माना है।

डॉ. पवन कुमार ने 'कुँवर नारायण के काव्य में राजनीतिक चेतना' लेख में काव्य और राजनीति के अटूट संबंध को दर्शाया है। कुँवर नारायण एक ऐसी स्थिति की कामना करते हैं जहाँ भ्रष्टाचार, अमानवीयता, चिंता, हिंसा, झूठ, फरेब, असमानता आदि का नामोनिशान तक न हो। चारों तरफ शांति व खुशहाली हो।

भरतबाई बावलिया ने "तमस : देश विभाजन की एक हृदयदावक त्रासदी" नामक शोध आलेख में भारत पाकिस्तान बँटवारे के दुष्परिणाम को दिखाया गया है। यह शोध पत्र न केवल देश विभाजन की रूपरेखा को प्रस्तुत करता है वरन् मानव की मानवता पर इंसान की इंसानियत पर धर्म की धार्मिकता पर प्रश्न चिह्न लगा देता है।

डॉ. ज्योति मुंगल के लेख '20वीं सदी के अंतिम दशक के महिला उपन्यासकारों के उपन्यासों के विविध आयाम' में लेखिका ने स्त्री जीवन के जटिल प्रश्नों के साथ-साथ समाज के सभी पक्षों पर प्रकाश डाला है। जैसे- नासिरा शर्मा, प्रभा खेतान, नमिता सिंह, मृदुला गर्ग, सुषमा वेदी, मधु संधु, मैत्रेयी पुष्पा आदि के उदाहरण द्वारा लेखिका ने नारी की समस्याओं पर विचार किया है।

रमेश मनोहर लमाणी ने आधुनिक हिंदी आत्मकथाओं में दलित संवेदना नामक लेख में दलितों की दयनीय स्थिति पर प्रकाश डाला है। दलित आत्मकथाओं को लेखक ने सामाजिक, राजनैतिक,

शैक्षणिक संदर्भों में देखा है। प्रमुख आत्मकथाओं में जैसे- मोहनदास नेमिशराय की 'अपने अपने पिंजरे', ओमप्रकाश वाल्मीकि की जूठन, कौशल्या बेसंतरी की 'दोहरा अभिशाप', सूरजपाल चौहान की तिरस्कृत, माता प्रसाद की झोपड़ी में राजभवन आदि आत्मकथाओं को अपने लेख का आधार बनाया है।

श्री टी. टी. लमाणी, 'सुरेन्द्र वर्मा के उपन्यासों में सांस्कृतिक विघटन' लेख में आधुनिक युग में समय के मर्म को पकड़ने वाली असामाजिक वृत्तियों से सजग कराने वाले तथ्य हमारी अपनी संस्कृति की ओर ध्यान दिलाने में सुरेन्द्र वर्मा सक्षम है।

डॉ. सैय्यद इकबाल मजाज़ 'हिंदी नवजागरण की अवधारणा' नामक लेख में नवजागरण को व्यापकता से समझाने का प्रयास है। जिनमें सांमतवाद, मध्यकालीन और धार्मिक सत्ता का कठोर नियंत्रण से मुक्त होकर भौतिक दुनिया के महत्त्व की समझ, वैज्ञानिक जिज्ञासा, बुद्धिमत्ता का धमाका, एक नई जीवन शैली नवजागरण के ये महत्त्वपूर्ण तत्त्व हैं और लेखक के अनुसार हमारी वैश्विक उपलब्धियाँ भी हैं।

डॉ. आनंद सिंदल 'आत्मकथा : अनुभूति, यथार्थ और प्रक्रिया' नामक लेख में आत्मकथा साहित्य का विशिष्ट स्थान है। यद्यपि हिंदी साहित्य में आत्मकथाओं की मात्रा अल्प है जिसके कारण लेखक ने अपने जीवन को महत्त्व न देना बताया है। कबीर, तुलसी से लेकर भारतेन्दु युग को लेते हुए लेखक ने आत्मकथन की जीवन की सार्थकता की चाह और खोज का साहित्यिक रूप माना है। 'धरती धन न अपना' उपन्यास में दलित चेतना नामक लेख में लेखक ने दलित शब्द को व्याख्यायित करते हुए दलितों की पीड़ा को उभारा है। घटनाओं को क्रमबद्ध रूप में प्रस्तुत कर गोविंद जी ने उपन्यास का महत्त्व, अनुभवों के मृतिका पिण्ड को एक सार्थक कलावृत्ति का निर्माण माना है।

रामदरश मिश्र के उपन्यासों में लोकगीत, वसावा आनंद भाई दामजी भाई का शोध आलेख है जिसमें लोकगीत शब्द का अर्थ व महत्त्व बताते हुए रामदरश मिश्र के उपन्यासों में लोक गीतों का स्थान, असर और संबंध पर विचार किया गया है। लोकगीत ग्रामीण संस्कृति की महत्त्वपूर्ण देन है। आधुनिक सभ्यता से लोकगीत लुप्त हो रहे हैं। इस दृष्टि से ये लेखक का महत्त्वपूर्ण लेख है।

गामीत अनुसुया बेन अर्जुन भाई ने 'निराला के काव्य में यथार्थ चेतना' में जहाँ सांस्कृतिक चेतना को व्यक्त करती राम की शक्ति पूजा, पंचवटी प्रसंग, यमुना के प्रति, छत्रपति शिवाजी का पत्र, तुलसीदास जैसी ऐतिहासिक इतिवृत्तों को लेखक ने लेख की पृष्ठभूमि के रूप में दिया है। वहीं वह तोड़ती पत्थर, भिक्षुक, बादल राग, सरोज स्मृति में व्यक्त यथार्थ को भी उठाया है।

अभिषेक कुमार पाण्डेय के लेख 'मार्क्सवादी विचारधारा के परिप्रेक्ष्य में अब्दुल बिस्मिल्लाह के उपन्यासों का अध्ययन' में उनके उपन्यास 'जहरबाद', 'समर शेष' हैं, झीनी-झीनी बीनी चदरिया को लेकर उनकी मार्क्सवादी विचारधारा को दिखाया गया है।

डॉ. भगवान सिंह जे. सोलंकी के शोध आलेख 'आदिवासी समाज और शिक्षा' में आँकड़ों के द्वारा आदिवासी समाज में शिक्षा, उसमें आने वाली अवरोधक परिस्थितियों एवं सुझाव व उसमें परिवर्तन की कितनी आवश्यकता है इस सब पर विस्तृत व्याख्या करते हुए आर्थिक, सामाजिक व राजनैतिक क्षेत्र में किस प्रकार परिवर्तन किए गए हैं उनका चित्रण किया गया है।

विद्यार्थियों की सृजनशीलता व उनकी शैक्षिक उपलब्धि पर प्रभाव आलेख में लेखिकाओं ने 500 विद्यार्थियों जिसमें 250 लड़के एवं 250 लड़कियाँ लेकर उपलब्धियों को प्रस्तुत किया गया है। जिसमें यह महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष दिया गया है कि उच्च, औसत एवं निम्न सृजनशीलता के बालकों की शैक्षिक उपलब्धि पर सृजनशीलता का कितना प्रभाव पड़ता है।

लेखक/लेखिकाओं की अपनी मौलिकता है। उस मौलिक लेखन में हम कोई हस्तक्षेप नहीं करना चाहते हैं। परन्तु विनम्र निवेदन है कि कृपया शोध पत्र को एक मानक के अनुसार ही भेजे।

**शगुप्ता नियाज़**

**अप्रैल 2013**

## अनुक्रम

सम्पादकीय/3

डॉ. (श्रीमती) के. के. रवि

हिन्दी अस्मितामूलक पत्रकारिता का संकट एवं चुनौतियाँ/7

कनुभाई करशनभाई भवा

बच्चन कृत मधुशाला का अनुभूति पक्ष : एक अध्ययन/19

डॉ. रीतू बहनोट

महिला लेखन : विविध पहलू/23

निधि नागर/डॉ. कमलेश कुमारी रवि

छायावादोत्तर हिन्दी कविता और जीवन मूल्य/27

डॉ. पवन कुमार

कुँवर नारायण के काव्य में राजनीतिक चेतना/31

प्रा. भरतभाई बावलिया

तमस : देश विभाजन की एक हृदयद्रावक त्रासदी/37

प्रा. डॉ. ज्योति मुंगल

20वीं सदी के अंतिम दशक के महिला उपन्यासकारों के उपन्यासों के विविध आयाम/40

रमेश मनोहर लमाणी

आधुनिक हिन्दी आत्मकथाओं में दलित संवेदना/43

श्री टी. टी. लमाणी

सुरेन्द्र वर्मा के उपन्यासों में सांस्कृतिक विघटन/48

डॉ. सैय्यद एकबाल मजाज़

हिन्दी नवजागरण की अवधारणा/52

**डॉ. आनंद सिन्दल**

आत्मकथा : अनुभूति, यथार्थ और प्रक्रिया/56

**प्रा. गोविंद कुमार वेकरीया**

धरती धन न अपना उपन्यास में दलित चेतना/61

**प्रा. वसावा आनंदभाई दामजीभाई**

रामदरश मिश्र के उपन्यासों में लोकगीत/64

**प्रा. गामीत अनसुयावेन अर्जुनभाई**

निराला के काव्य में यथार्थ चेतना/67

**अभिषेक कुमार पाण्डेय**

मार्क्सवादी विचारधारा के परिप्रेक्ष्य में अब्दुल बिस्मिल्लाह के उपन्यासों का अध्ययन/69

**डॉ. भगवानसिंह जे. सोलंकी**

आदिवासी समाज और शिक्षा/73

**डॉ. शोभना श्रीवास्तव/डॉ. ज्योत्सना भटनागर**

विद्यार्थियों की सृजनशीलता का उनकी शैक्षिक उपलब्धि पर प्रभाव/78

---

सम्पर्क करें

कहानी-संग्रह, उपन्यास, बाल साहित्य, कविता संग्रह, संस्मरण, आलोचनात्मक ग्रंथ एवं हिन्दी साहित्य की अन्य विधाओं की कोई भी पुस्तक प्रकाशनार्थ भेज सकते हैं। हिन्दी विषय के अतिरिक्त अन्य विषय की पुस्तक भी भेज सकते हैं। जो भी पुस्तक प्रकाशित की जाएगी उस पर आई एस वी एन नम्बर (ISBN) होगा।

# वाङ्मय बुक्स प्रकाशन

(प्रकाशक एवं वितरक)

205- ओहद रेजीडेंसी, नियर पान वाली कोठी, दोदपुर रोड, अलीगढ़-202002

Mobile:09044918670/09719304668

vangmaya2007@yahoo.co.in / vangmaya@gmail.com/ vangmayaprakashan@gmail.com

## हिन्दी अस्मितामूलक पत्रकारिता का संकट एवं चुनौतियाँ

डॉ. (श्रीमती) के. के. रवि

मनुष्य जब से इस पृथ्वी मंडल पर आया, तब से लेकर आज तक, वह अपनी आत्मा की अभिव्यक्ति अन्य किसी के पास सम्प्रेषित करना चाहता है। इस सम्प्रेषण के लिए मीडिया की आवश्यकता पड़ती है। मीडिया के कई रूप-स्वरूप प्रचलित हैं। यथा- पारम्परिक माध्यम, श्रव्य मीडिया, दृश्य मीडिया तथा शब्द मीडिया- इसमें समाचार पत्र, पत्रिकाएं और पुस्तकों का अस्तित्व आदि।

हाल के वर्षों में हिन्दी की कई महत्वपूर्ण और प्रतिष्ठित पत्र-पत्रिकाएं बंद या स्थगित हो गई हैं। इससे हिन्दी पत्रकारिता जगत में यह प्रश्न तैरने लगा कि हिन्दी पत्रकारिता संकट में है क्या? संकट है इसमें कोई दो मत नहीं। पर यह भी सच है कि जितना संकट है उससे ज्यादा मान लिया गया है। हाल में बन्द या स्थगित होने वाली पत्र-पत्रिकाएं हैं- स्वतंत्र भारत (पटना), पाटलिपुत्र टाइम्स (पटना), नव भारत टाइम्स (लखनऊ, पटना और जयपुर संस्करण) सारिका, सारिका टाइम्स, पब्लिक एशिया और अवकाश आदि।

सामाजिक न्याय का सवाल मीडिया से गहरे रूप से जुड़ा हुआ है क्योंकि सामाजिक और आर्थिक विकास का रास्ता सामाजिक न्याय के द्वार से होकर ही गुजरता है। किसी समाज में समानता, स्वतन्त्रता और बंधुत्व उसके विकास के मूल मंत्र होते हैं। आज जिस तरह का माहौल सारे विश्व में बन रहा है उसमें सामाजिक न्याय का मुद्दा बेईमानी होता जा रहा है। उदारीकरण और निजीकरण के नाम पर जिस तरह के उपभोक्ता को बढ़ावा दिया जा रहा है इसमें कमजोर वर्गों विशेषकर दलित और पिछड़ों के शोषण की संभावना और बढ़ गयी है। मीडिया चाहे वह सरकारी हो या गैर सरकारी- इस उदारवाद के गुण- ज्ञान में काफी उदारता बरत रहा है। उसके सामने यह महत्वपूर्ण नहीं है कि इस तरह के परिवर्तन से अन्ततः फायदा किस वर्ग को हो रहा है। पत्रकारिता में कमजोर वर्गों-दलितों, पिछड़ों महिलाओं और अल्पसंख्यकों को उपेक्षित-सा कर दिया गया। प्रिंट मीडिया का अधिकतर हिस्सा पूंजीपतियों के हाथ में आ गया और सत्ता पर बाहुबली लोग कुंडली मारकर बैठ गये, सामाजिक न्याय की परवाह न प्राइवेट मीडिया को ही है न सरकारी मीडिया को सत्ताधारी वर्ग और प्रेस मालिकों तथा साम्राज्यवादियों के बीच संबंधों के समीकरण बदल गये।

पत्रकारिता एक रचनाशील विधा है। इसके बिना समाज में परिवर्तन असंभव हैं पत्रकारिता का मुख्य उद्देश्य सूचना देना एवं उसकी व्याख्या करना हैं साहित्यिक मूल्य लोकतान्त्रिक मूल्यों से घनिष्ठ रूप से जुड़े हुए हैं। स्वतंत्र इच्छा के द्वारा जनमानस को

आत्मनिर्भर और जागरूक बनाना और मनुष्य की अस्मिता के प्रति संवेदनशील सूचना लोकतंत्र की बुनियादी पहचान है।<sup>1</sup>

साहित्यिक पत्रकारिता में चुनौतिपूर्ण समय सन् 1980 के बाद आया है। नौवें दशक के उत्तरार्द्ध में जनसंचार माध्यमों का विस्फोट होता है। समाचार पत्रों में टेलीविजन से अधिक गंभीर चर्चा का अवकाश होता है, लेकिन इलेक्ट्रॉनिक मीडिया ने मनुष्य के समय को चुरा लिया है उसका एकांत छिन गया है। टीवी के कारण पत्र-पत्रिकाओं पर दबाव बढ़ा है, इससे इन्कार नहीं किया जा सकता। पढ़ने की आदत को कम करने में टीवी की कम भूमिका नहीं है क्योंकि पत्र-पत्रिका पढ़ने के लिए दिमाग लग सकता है पर टीवी देखने में तो आनन्द ही आनन्द है। टीवी ने पत्रकारिता की अस्मिता को संकट में डाल दिया है। आज का मनुष्य एक अलग प्रकार के सम्मोहन में जी रहा है। इसके दूरगामी परिणाम साहित्य और साहित्यिक पत्रकारिता को भुगतने पड़ रहे हैं।<sup>2</sup>

यह सच है कि साहित्यकार और पत्रकार दोनों ही मानव संबंधों में आए बदलाव को अपने-अपने माध्यमों द्वारा अभिव्यक्त करते हैं। जहाँ पत्रकार के लिए उसकी प्रस्तुति यथार्थ पर आधारित होती है, वहीं यथार्थ की आधार भूमि होते हुए साहित्य में उसका यथार्थवादी रूप व्यक्त हो सकता है लेकिन पत्रकारिता ही साहित्य के पाठकों में वृद्धि एवं उनकी संख्या में बढ़ोत्तरी करती रही है। समाचार पत्रों में कविताएँ, कहानियाँ एवं अनेक साहित्यिक स्तंभ पाठकों की अभिरुचि का परिष्कार करने में सहायक होते हैं। इक्कीसवीं सदी में तो हालात बदतर है। बड़े-बड़े हिन्दी प्रकाशक सातवें-आठवें दशक में किसी पुस्तक की 2000 से 3000 तक प्रतियाँ प्रकाशित होती थी अब 300 से 500 प्रतियाँ छाप रहे हैं। सरकारी खरीदी के भरोसे चलने वाला हिन्दी प्रकाशन व्यवसाय पाठक की चिन्ता नहीं करता था। दूसरी ओर, 300 से 500 रुपये मूल्य की पुस्तक कितने पाठक खरीद सकते हैं और जिन लोगों में पुस्तक खरीदने का सामर्थ्य है वे नए संचार-माध्यमों की चमक-दमक के दीवाने बने हुए हैं।<sup>3</sup>

पत्रकारिता को लोकतंत्र का चौथा स्तंभ माना जाता है। लोकतंत्र के सजग प्रहरी के रूप में काम करने वाली पत्रकारिता एक समय मूल्यों के लिए सत्ता का विरोध करने वाली विज्ञापन की रणनीति के कारण आदर्शों और दायित्वों को दरकिनार करती हुई नज़र आ रही है। पत्रकारिता और राजनीति के बदलते रिश्ते के कारण वह बची-कुची प्रतिष्ठा भी खोती जा रही है। एक समय पीत पत्रकारिता को अच्छा नहीं समझा जाता था, अब पीत पत्रकारिता का ही बोलबाला है। खोजी पत्रकारिता के चोंगे में भी हमें पीत पत्रकारिता के दर्शन होते हैं।<sup>4</sup>

आज लोकतंत्र के मूल्यों को दृढ़ करने वाली पत्रिकाओं से हाथ खींचे जा रहे हैं। मनुष्य को उपभोक्ता में बदल दिया गया है। जिस तरह मनुष्य को उपभोक्ता में बदलने के लिए मुहिम में संचार माध्यम लगे हुए हैं, उसे देखकर लगता है कि मनुष्य को बेहतर मनुष्य बनाने के लिए गहरा संकट खड़ा हो गया है। इलेक्ट्रॉनिक मीडिया मनोरंजन के नाम पर हल्की-फुल्की चीजें परोस रहा है और गम्भीर प्रश्नों से ध्यान हटाया जा रहा है।<sup>5</sup>

पत्रकारिता के इस युग में शब्द प्रायः अर्थों को विस्थापित करने का काम करते हैं। आज सर्वाधिक चर्चित शब्द भूमंडलीकरण है जो यह भूमिका निभा रहा है। इस शब्द से यह भ्रम पैदा होता है कि यह एक ऐसी व्यवस्था है जिसमें अपने छोटे स्वार्थों से ऊपर उठकर लोग सारे संसार के मंगल के लिए एक जुट हो जायेंगे, लेकिन भूमंडलीकरण के निहित अर्थ इसके ठीक उलटा है। इससे निकलने वाली 'सब जन हिताय सब जन सुखाय' की ध्वनि के विपरीत यह



व्यवस्था सारे संसार को कुछ सशक्त पूँजीवादी प्रतिष्ठानों यानी बहुराष्ट्रीय कंपनियों और उनके सकेन्द्रण के सबसे सबल केन्द्रों के हितों की रक्षा का माध्यम बनी हुई है। मगर हकीकत तो यह है कि निजी स्वार्थों की पूर्ति हेतु धर्मान्धों, पूँजीपतियों, मनुवादियों तथा पक्षपातपूर्ण लिंग की कवायद करने वालों ने धर्म, धन, वर्ग, जाति, लिंग, नस्ल और संस्कृति के नाम पर देश के टुकड़े-टुकड़े कर डाले हैं। इस विभाजन के शिकार पीड़ित वही हाशिए के लोग हैं जो सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक और राजनैतिक हर स्तर पर खुद को बेहतर समझने वालों की मार झेलते-झेलते टूट से गये हैं, बिखर से गये हैं। यह बिखराव उनकी मजबूरी और बेबसी का परिचायक है और पीड़ित समुदायों की अस्मिता के लिए प्रश्नचिह्न है- ये समुदाय है-

1. भारत के मूल समुदाय के निवासियों के अस्मिता का प्रश्न
2. दलित समुदाय के अस्मिता का प्रश्न
3. नारी समुदाय के अस्मिता का प्रश्न
4. आदिवासी समुदाय आदि की अस्मिता का प्रश्न।

### भारत के मूल समुदाय के निवासियों के अस्मिता का प्रश्न

आज की परिस्थिति ऐसी है कि वंचितों और पिछड़ों के हिमायती की शामत आ जाए। दलित और आदिवासी की तो क्या मजाल इलेक्ट्रॉनिक मीडिया का प्रभाव वर्तमान में समाज पर सकारात्मक की जगह नकारात्मक प्रभाव पड़ रहा है विज्ञापन दाता अब भी अंग्रेज़ी प्रकाशनों और टीवी की ओर भागते हैं। एक तो आय नहीं बढ़ रही है। दूसरी ओर प्रतिस्पर्धा बढ़ रही है कोलकाता में 'एशियन एज' 24 पृष्ठों के साथ डेढ़ रु. में आने लगा तो स्टेट्समैन, टेलीग्राफ, टाइम्स आफ इण्डिया, हिन्दुस्तान टाइम्स का भी अपनी कीमत डेढ़ रु. करनी पड़ी। भविष्य में हिन्दी पत्रों के मामले में यह प्रवृत्ति बढ़ सकती है। इससे पाठकों को तो लाभ होगा पर प्रकाशन पर बोझ पड़ने के कारण उनके दूरगामी नतीजे अच्छे नहीं होंगे। समाज चेतना में शब्दकार का दायित्व बहुत चुनौतीपूर्ण है उसकी कलम से निकले हुए शब्द, मुख से निकला हुआ स्वर, उसके द्वारा प्रस्तुत किया हुआ दृश्य, किसी बन्दूक की गोली से कम नहीं है। रचनाधर्मिता अब ताक पर जा बैठी है। अब जीने के लिए सब कुछ हो गये हैं। न उन्हें माँ की शर्म है और न बहन की। उन्हें तो सिर्फ नोट चाहिए। उनलप का गद्दा चाहिए, सुरा सुन्दरी और महल चाहिए, समाज में बिखराव चाहिए। भारतीय संस्कृति नग्न चाहिए। जो समानता का मानवाधिकार को निगले जा रही है, मौजूदा लोकतंत्र दबंग तंत्र-सवर्णतंत्र-अभिजात तंत्र का छद्म स्वरूप है।

.... इसकी कोशिश भी नहीं हुई। सांस्कृतिक दायित्व को बिसार दिया गया इतने पर भी जो पाठक हैं, वे निराशाजनक तस्वीर नहीं रखते। प्रसार संख्या और पाठकों की संख्या के हिसाब से हिन्दी अब भी नम्बर एक पर है, लेकिन इससे उसकी दशा तो नहीं बदल जायेगी हिन्दी में पठन वृत्ति है पर दूसरी भाषाओं की तुलना में कम। हिन्दी में अपनी जातीय अस्मिता का संकट है।<sup>6</sup>

हमें अपनी अस्मिता के लिए प्रमाणित करना होगा कि हम सब भारत के मूल निवासी हैं। कोई दलित नहीं, कोई अल्पसंख्यक नहीं, कोई हिन्दू नहीं है- हम सब मूल निवासी भारतवासी हैं। सवर्णों द्वारा प्रत्येक संबोधन हमारे लिये एक गाली अपमान का संबोधन है। ताकि हम देश में अथवा समाज के आम प्रतिनिधि के रूप में जाने-पहचाने जायें।

शोषक वर्ग कहता है कि “सत्यमेव जयते” यानी सत्य की जीत होती है, यह गुण्डागर्दी का वक्तव्य हैं तब बूथ कैप्चरिंग और फर्जी वोटिंग क्यों होती है? जो जीतता है वही सत्य माना जाता है- यही स्वर्णपोषी ब्राह्मणशाही राजनीति है। तुलसीदास ने कहा है- समर्थ को नहीं दोष गोसाईं।’

अतः मूलनिवासियों को भी परस्पर मतभेद त्यागकर, एकजुट होकर सामर्थ्यवान होना पड़ेगा- जब हम भी ताकत में होंगे तो सत्य कहलायेंगे- और हम भी घोषणा करेंगे “सत्यमेव जयते” और कोई हमें चुनौती भी नहीं दे सकेगा।

भारतवर्ष के मूल निवासियों की अस्मिता पर देश की आज़ादी के समय से ही प्रश्न उठते रहे हैं लेकिन कोई भी ऐसा क्रांतिकारी वर्ग नहीं है, जिसमें वह दृढ़ता, समझदारी, साहस अथवा कठोरता हो, जो शोषक सरकार को उखाड़ फेंकने के वास्ते नकारात्मक प्रतिनिधि के रूप में समाज को लामबद्ध कर दे और न कोई ऐसा वर्ग है, जिसमें वह आत्मा की विशालता हो, जो एक क्षण के लिए भी राष्ट्र की आत्मा के साथ सबको मिलाकर उसे एक रूप दे, जिसमें वह प्रेरणा शक्ति हो, जो भौतिक बल के अन्दर राजनीतिक विद्रोह करने का संकल्प फूंक दे अथवा ऐसी क्रांतिकारी साहसिकता भर दे, जो विरोधी को सामने देखकर गरजती हुई यह हुंकार करे कि ‘मारो या मरो’<sup>8</sup> इसके सिवाय कोई दूसरा रास्ता नहीं है।

मूल निवासियों को अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए आतंकवादी संगठनों एवं लोकतंत्र को बर्बाद करने वाली संस्थाओं से सावधान रहकर अनभिज्ञ मूल निवासियों को भी सचेत करना होगा कि- जब तक ब्राह्मणवाद रहेगा, लोकतंत्र बर्बाद रहेगा। नहीं चाहिए मंदिर, मस्जिद, गिरजाघर, गुरुद्वारा- ब्राह्मणवाद है सबके पीछे लोकतंत्र का हत्यारा। जब तक सवर्ण ब्राह्मणवाद रहेगा धरती पर तूफान रहेगा तथा सवर्ण सांप दौऊ खड़े, दोनों खतरे जान, ज्यादा घातक सवर्ण है, मत चूको श्रमिक किसान।

प्राचीन व्यवस्था के राजा आज के मुख्यमंत्री हैं विधायक जमींदार हैं जो ऊपर की कुर्सी हथियाने के वास्ते संघर्षरत हैं। संसदीय शासन प्रणाली के कारण सामन्तशाही, राजशाही व्यवस्था तो टूट गई, मगर वह मानसिकता अभी बरकरार है। जब सवर्ण शैतानों की दुनिया भर के थैलीशाहों- उद्योगपतियों-शासकों-शोषकों का अन्तर्राष्ट्रीय संगठन (भूमण्डलीकरण) हो सकता है तो दुनिया भर के मूल निवासी शोषितों- दलितों का विश्व-संगठन (भूमण्डलीकरण) क्यों नहीं हो सकता। कार्ल मार्क्स की घोषणा है कि दुनिया के मेहनतकशों एक हो। तभी अस्तित्व को बचाया जा सकता है।

भारतीय राजनीतिबाजों की क्रांति सामान्य मानवता की मुक्ति नहीं है बल्कि एक आंशिक मात्र राजनीतिक क्रांति है ऐसी क्रांति जो मकान के खंभों को ज्यों का त्यों छोड़ देती है। इसका आधार होता है नस्लवादी वर्चस्ववाद की स्थापना की क्रांति, जो पर्दे की आड़ में फासीवाद-नाजीवाद का स्वरूप धारण कर लेता है। अधिकांश राजनैतिक दल ऐसे ही छदम् वेशधारी राष्ट्रवादी जनतांत्रिक गठबंधन है जो राष्ट्रवादी मुखौटा, लगाकर शुगर कोटेड टेबलेट (जनतांत्रिक लोकतांत्रिक प्रचार) से सबको मन्त्र-मुग्ध कर लेती है। असल में फासीवाद, नाजीवाद, आतंकवादी ब्राह्मणवाद लोकतांत्रिक मान्यताओं के प्रचार से राजनीति में दाखिल होता है और तानाशाही हिटलरशाही प्रवृत्ति से आगे बढ़ता है। नागरिक समाज का एक भाग विशेषाधिकार द्वारा अपने को आरोपों-प्रत्यारोपों से मुक्त कर लेता है और आम आधिपत्य कायम कर लेता है। आम आदमियों के लिए स्वतन्त्रता एक धोखे का प्रचार है। “यहाँ मीडिया की अस्मिता पर प्रश्न खड़ा हो जाता है?

### **आदिवासी समुदाय की अस्मिता का प्रश्न**

दलितों और आदिवासियों की स्थिति में एक बड़ा अंतर यह है कि दलितों को गांव के बाहर भारतीय संस्कृति से बहिष्कृत करने के बाद भी उसके आधीन रहकर उसे मानने पर मजबूर किया गया और जीने की मानवीय शर्तों से वंचित रखा गया। उनसे आत्मसम्मान छीन लिया गया। इसके विपरीत आदिवासियों को सभ्यता से ही बहिष्कृत कर जंगलों में ठेल दिया गया। वह अपनी संस्कृति की विरासत और आत्म सम्मान के साथ जीता रहा, लेकिन अब उनकी सांस्कृतिक और सामाजिक संरचना और स्वायत्तता पर भी खतरा पैदा हो गया। क्योंकि यदि जंगल और जमीन न हो तो आदिवासी का अस्तित्व ही खतरे में पड़ जायेगा। इसलिए मैदानी वर्चस्ववादी तबकों, शासकों व प्रशासकों ने, चाहे वे देशी हो या विदेशी, उसे भूमि और जंगलों से विलग करने की एक शातिर चाल चली गयी। मुंडा आदिवासी जो बाद में मुंडा, संस्थाल हो, खड़िया- चार गुणों में बंटे, अपना रिश्ता मोहनजोदड़ों से जोड़ते हैं। वेदों में मुंगरी और संथाली भाषा के अनेक शब्द पाये जाते हैं। जिससे सिद्ध होता है कि इनकी भाषा संस्कृति से भी पूर्व की है और भारत की अनेक भाषाओं का स्रोत यही भाषा है न कि संस्कृत। भारत की मूल भाषाओं के प्रश्न पर शोध करना दूर की बात है अब इनकी अस्तित्व व अस्मिता पर भी खतरा मंडरा रहा है।<sup>9</sup>

देश में आदिवासियों की मुख्य समस्या हमेशा से विस्थापन की रही है। वह पहले भी खदेड़े जाते थे और आज भी खदेड़े जाते हैं केवल तरीका बदल गया है। पहले वे एक जंगल से दूसरे जंगल में जाते थे, लेकिन आज या तो जंगल कट गए हैं या उनमें उनके परिवेश पर रोक लगा दी गई है और वे जंगल के अधिकारों से वंचित कर दिए गए हैं और शहरों की तरफ भागे चले आ रहे हैं।

भाषा का प्रश्न भी उनकी अस्मिता से जुड़ा है। आदिवासियों की शिक्षा अपनी भाषा में न होकर उनकी भाषा में होनी चाहिए। स्कूलों में आदिवासी अस्मिता विरोधी या असंबद्ध तथा अप्रचलित पाठ्यक्रम को हटाना चाहिए।<sup>10</sup>

आदिवासी अस्मिता की रक्षा के सवाल पर अमल करने से जनजातीय दलित अपने पैरों पर खड़े होकर अपनी अस्तित्व रक्षा एवं विकास करने के निमित्त पहल कर सकेंगे।

आधुनिक भौतिकवादी और विकासोन्मुखी दौर में आज भी भारत के सहरिया जनजाति अपने परम्परागत जीविकोपार्जन के स्रोत कृषि, मजदूरी, वनोत्पाद, शहर निष्कासन एवं शिकार द्वारा अपनी मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं। ये स्रोत उनकी आवश्यकता के पूर्ति हेतु पर्याप्त नहीं हैं। फलतः उनका जीवन आज भी अभाव ग्रस्त बना हुआ है। वनोत्पाद से सहरिया आदिवासी दिनोंदिन वंचित होते जा रहे हैं, जिससे अधिकांश सहरिया अपने सहराना छोड़कर शहर एवं कस्बों की ओर काम की तलाश में पलायन करने के लिए बाध्य है। सहरिया के समक्ष अपनी अस्मिता का प्रश्न है जिस पर भारत सरकार को ध्यान देना है।<sup>11</sup> वे मुद्दे हैं- शिक्षा से कितने दूर कितने पास, 2. आर्थिक जीवन, 3. ऋण ग्रस्तता की चपेट में सहरिया, 4. अंधविश्वास के बीच सहरिया, 5. कला के प्रति लगाव आदि।

### **दलित समुदाय की अस्मिता का प्रश्न**

भारतवर्ष जातियों का देश है। भारत में हिन्दू समाज में चतुर्यवर्ण ब्राह्मण, क्षत्रीय, वैश्य, शूद्र व्यवस्था भारतीय संस्कृति का आधार मानी जाती है, लेकिन दलित समुदाय के लिए एक

समान संस्कृति जैसी कोई चीज़ कभी नहीं रही। इस व्यवस्था ने तो दलित समाज के लोगों को मृत, पंगु तथा आशक्त बनाकर अच्छा कर्म करने से रोकने का आधार तैयार किया। हिन्दू धर्म ने तो दलितों को युगों से गुलाम बनाकर रौंदा है एक वर्ग दूसरे वर्ग से श्रेष्ठ है, इस श्रेष्ठतम के अहंकार से लिप्त हिन्दू धर्म सभ्यता की झूठी आडम्बरी संस्कृति ने दलितों को सदियों से हाशिये पर धकेलकर बहिष्कृतों की तरह जीने के लिए मजबूर किया है। क्या दलित को समाज में जीने का कोई अधिकार नहीं है। आखिर क्यों? सदियों से दलित वर्ग हमेशा से ही प्रताड़ित होता आया है। यह दलित वर्ग की अस्मिता पर बहुत बड़ा प्रश्न है।

प्राचीन समय में ब्राह्मणों ने अपनी एकता और शक्ति के बल पर अपने को सर्वश्रेष्ठ उपाधि से मंडित किया और ब्राह्मण को समाज का मुख बताया गया, क्योंकि मुख से पांच ज्ञानेन्द्रियाँ एकत्रित हैं, इसलिए ब्राह्मण ही ज्ञानवान हुआ। शेष सब निकृष्ट। इतना ही नहीं, ब्राह्मणवादी सभ्यता के सामाजिक और सांस्कृतिक परिवेश में दलितों का प्रवेश निषेध कर दिया गया। उसे उत्पादकों के तमाम संसाधनों के हकों से वंचित कर दिया गया। जिस कारण से उसके लिये आर्थिक सत्ता को प्राप्त करने के सब सुलभ रास्ते बन्द कर दिये गये। केवल बचा अस्पृश्यता का अदृश्य अदद शरीर, लेकिन उस अदद शरीर को भी नहीं छोड़ा गया, उस पर भी कब्जा कर लिया गया। कब्जा करके गुलामी की जंजीरों में जकड़कर सदियों तक गुलाम बनाकर रखा गया, जिसके आज भी ताज़ा उदाहरण हमारे शहरी एवं ग्रामीण परिवेश में दिखाई देते हैं।

समाज में जातिगत अपमान और उत्पीड़न की जड़े जितनी गहरी, एक लम्बे ऐतिहासिक काल से सामाजिक संरचना में इनकी उपस्थिति की निरन्तरता के कारण इसकी जो जटिल संश्लिष्ट प्रकृति है, उसे देखकर इनके अस्तित्व का खात्मा कभी असम्भव प्रतीत होता है, क्योंकि बहिष्कृत समाज गाँव, कस्बों एवं नगरों के दक्षिण दिशा में अंधकारमय बस्तियों में सिसकता रहा है। ऐसी गुमनाम ज़िन्दगी, जिसमें अभाव, अपमान, अवहेलना, पीड़ा और वेदना के अलावा और कुछ नहीं। दलितों के हिस्से में आया हुआ जीवन गुलामी से बंधा हुआ जीवन है, क्योंकि इस परम्परागत जीवन को ढोने के अलावा शास्त्रों में इनके हिस्से के लिए कुछ बचाकर नहीं रखा, बल्कि आज़ाद ज़िन्दगी और ज्ञान तो इनको अपने कर्म के मार्ग से हटाकर नरक के द्वार पर धकेलते हैं और सदियों से चली आ रही सामाजिक व्यवस्था को भंग करते हैं।

आज दलित की बदलती हुई जीवन प्रक्रिया से यह उक्ति चरितार्थ होती है—“जल प्रपात को कोई भी बांध बहुत समय तक रोक नहीं सकता एक न एक दिन जल प्रपात बांध को तोड़कर पूरे वेग से बहने लगता है, किनारे पर खड़े वृक्ष भी उसके वेग के आगे टिक नहीं पाते।”<sup>12</sup> डॉ. भीमराव अम्बेडकर दलितोत्थान के प्रेरणा स्रोत, जिनका सिद्धान्त था— शिक्षित बनो, संघर्ष करो और संगठित बनो। एक सामाजिक, सांस्कृतिक और क्रान्तिकारी शैक्षणिक (जागरूकता) आन्दोलन की आवश्यकता है। क्योंकि आज फिर से दलित अस्तित्व के सामने सबसे बड़ी समस्या हिन्दू फासीवाद और साम्राज्यवादी भूमण्डलीकरण है।

वो जमाना गुज़र गया जब दलितों को समाज में किसी भी प्रकार के अधिकार प्राप्त नहीं थे। उनके साथ उनके ही देशवासियों ने इतने अत्याचार किए जितने की अपने शासनकाल में अंग्रेजों ने शायद ही भारतीय पर किये हों और उनकी ज़िन्दगी को नरक बनाने में वो मनुवादी लोग थे, जिन्होंने समाज को चार वर्णों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र) में, गरम आँच

अभी ठंडी होने का नाम नहीं ले रही। पेशवाओं की राजधानी पूने में अछूतों के लिए यह राजाज्ञा थी कि वह कमर पर झाड़ू बांधकर चले ताकि उसके चलने से धरती पर अंकित उनके पदचिह्न झाड़ू से साफ हो जाए क्योंकि उस पर पैर पड़ने से सवर्ण अपवित्र हो जाते थे।<sup>13</sup>

भारतीय संविधान की धारा-17 के द्वारा अस्पृश्यता को पूरी तरह से उन्मूलन तथा इसके किसी भी रूप में प्रचलन को निषेध कर दिया गया है, लेकिन इसके बावजूद भी मनुवादी जड़े इतनी गहरी हैं कि आज भी राजस्थान, हरियाणा, उत्तर प्रदेश में दलितों को पहले की तरह ही सताये जाने की खबरें आती रहती हैं। अब लोगों की मानसिकता में बदलाव लाने की आवश्यकता है जिसे शिक्षित दलितों को स्वयं करना होगा। उसे समाज में एक नई चेतना फूंकनी होगी और इस जातिवाद पर प्रहार कर उसे समाप्त करना होगा।

मनु की माने तो दलित अछूत हैं उन्हें गांव में रहने का अधिकार नहीं है, शिक्षा ग्रहण करने का हक नहीं है, अच्छे वस्त्र नहीं पहन सकते और किसी भी तरह का व्यवसाय नहीं कर सकते हैं। मनुवादी प्रवृत्ति वाला समुदाय अपने पक्ष को और मजबूत करने का सबूत देने के लिए अपने पवित्र ग्रंथ, वेद, पुराण और महाभारत का हवाला देते हुए डींगें हाँकते हैं। वही महाराष्ट्र जिसमें वीर एकलव्य का अंगूठा उसके ही गुरु द्रोणाचार्य कटवा लेते हैं। क्योंकि गुरु द्रोणाचार्य यह अच्छी तरह जानते थे कि एकलव्य कभी भी अर्जुन के लिए चुनौती बन सकता है। वह दलित समुदाय से था, अतः उसका अंगूठा यानी उसकी सारी शक्ति और विद्या छीन ली।

आज भी दलितों पर अत्याचार की खबरें लगातार पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रहती हैं। तब कोई कुछ नहीं बोलता, क्योंकि मनुवादी इस व्यवस्था को बनाये रखना चाहते हैं। उदाहरणार्थ फणीश्वरनाथ 'रेणु' की 'अमर' कहानी में बूढ़ा मृदंगिया एक ब्राह्मण के बेटे को प्यार से बेटा कह देता है तो गांवों के लड़कों ने उसे घेर कर मारने की तैयारी कर ली क्योंकि "बहरदार होकर ब्राह्मण के बच्चे को बेटा कहेगा? मारो साले बुड़ड़े को घेरकर। मृदंग फोड़ दो।" मिदंगियाँ ने हंसकर कहा था, अच्छा इस बार माफ कर दो सरकार। अब से आप लोगों को बाप ही कहूँगा। बाद में नागार्जुन ने इसी हंसी को ....उसकी जगह एक क्रोध को जन्मते देखा और कहा "दलित माओ के सब बच्चे अब बागी होंगे।"<sup>14</sup>

धर्म, स्वास्थ्य और शिक्षा से अधिक और बहुत अधिक महत्ता रखता है। इससे प्रत्यक्षतः दृष्टिगोचर होता है कि भारतीय समाज के इस वीभत्स, कुरूपतम् और जटिल ऐतिहासिक प्रश्न को हल करने के लिए एक जबरदस्त सामाजिक और सांस्कृतिक आन्दोलन की आवश्यकता है क्योंकि महज कुछ रस्मी कार्यवाहियों, निठल्ले अकादमिक विमर्शों, शासक वर्गों के प्रतिवेदन भेजने या कानूनी संवैधानिक उपायों से कतई हल नहीं किया जा सकता। सहस्रों वर्ष पुराना यह प्रश्न समय बीतने के साथ अत्यधिक जटिल होता गया और अपने जटिलतम् एवं संश्लिष्टतम् रूप में आज हमारी आँखों में घूम रहा है।

दरअसल, साम्राज्यवाद भूमण्डलीकरण का पोषक है और भूमण्डलीकरण हिन्दू फासीवाद का पूरक है। यह हिन्दू फासीवादी वर्ण व्यवस्था का हिमायती है। ये गरीबों, मजदूरों, स्त्रियों, दलितों और अल्पसंख्यकों के कट्टर दुश्मन हैं। इसी कट्टरता के कारण गरीबों और दलित वर्ग की शिक्षा, स्वास्थ्य और रोजगार पर बहुत बुरा असर पड़ा है। इसके उदाहरण शहरों की आसपास की झुग्गी-झोपड़ियाँ, कचड़े से जीवकोपार्जन के लिए बिनते कुछ आवश्यक सामग्री आदि।

### नारी समुदाय की अस्मिता का प्रश्न

वर्तमान समय मीडिया का है। मीडिया का समाज से घनिष्ठ संबंध है। दूरदर्शन एवं इंटरनेट ने रेडियो, ट्रांजिस्टर और मुद्रित माध्यम से जुड़कर मीडिया को आज विश्व की महाशक्ति बना दिया है। मीडिया माध्यमों से जनसाधारण वर्ग में विचारों का परस्पर आदान-प्रदान होता है और वे भावनात्मक रूप से जुड़ जाते हैं इस जनसाधारण वर्ग में दर्शक, श्रोता और पाठक शामिल हैं। जनसंचार को समाचार पत्र-पत्रिकायें, पोस्टर, पम्पलेट, होर्डिंग तथा वॉल राइटिंग आदि मुद्रित रूप में लिखित जनसंचार माध्यम टेलीविजन, सिनेमा, वीडियो, कैसटों तथा कम्प्यूटर आदि के रूप में दृश्य-श्रव्य जनसंचार माध्यम के रूप में देखा जा सकता है। जनसंचार रूपी प्रचार तंत्र में विज्ञापनों का भी विशेष स्थान है।

नारी समुदाय की अस्मिता का प्रश्न आज के व्यापारोन्मुखी संसार में 'विज्ञापन' प्रचार का सशक्त और अपरिहार्य साधन है। आज एक तरफ जहाँ कम्प्यूटर उपग्रह और डिजिटल प्रौद्योगिक एवं लगातार विकसित हो रही संचार प्रौद्योगिकी के कारण जनसंचार की नई-नई तकनीकों का विकास तीव्र गति से हो रहा है, वहीं इन माध्यमों में नारी को विशेष रूप से चित्रित किया जा रहा है। भारतीय समाज में नारी का महत्त्व सदैव महत्त्वपूर्ण रहा है, परन्तु उसका शोषण भी कम नहीं हुआ है। प्राचीन काल से लेकर आज तक समाज में नारी का स्थान उतार-चढ़ाव का रहा। गृहलक्ष्मी, अन्नपूर्णा, ऐश्वर्यशालिनी, सहधर्मिणी, अर्धांगिनी जैसी नारी की पारम्परिक छवि वर्तमान युग में बदलती रही है।<sup>15</sup>

इक्कीसवीं सदी में विश्वफलक पर जीती आम औरत विशेष कर भारतीय स्त्री की तस्वीर पिछले दशकों तथा सदियों से काफी भिन्न दिखाई देती है, न केवल बाह्य स्वरूप में बल्कि सोच एवं मानसिकता की दृष्टि से भी।

अस्तित्व के लिए संघर्ष जीवन का सत्य है। जीवित वही रहता है जो सशक्त है, सबल है जिसके हाथों में उसे जीवन की डोर होती है। वर्तमान अर्थ प्रधान धार्मिक एवं सामाजिक व्यवस्था में धन ही शक्ति का मूल है, शारीरिक मानसिक एवं आर्थिक मजबूती सम्भावित रूप से जीवित बने रहने के लिए आवश्यक है। शक्ति का वर्चस्व हर युग में विद्यमान रहा है। कहा भी गया है-“अश्व नैव गज नैव व्याघ्र नैव चनैव च, अजा पुत्र बलि दधात देवो दुर्बल धातक।”<sup>16</sup>

उपरोक्त पंक्तियों से स्पष्ट है कि नाश उसका किया जाता है जो दुर्बल है चाहे वह कोई भी प्राणी हो।”

मीडिया माध्यमों ने जहाँ एक ओर भारतीय संस्कृति और जीवन मूल्यों का दिग्दर्शन कराते हुए स्वस्थ मनोरंजन की यह राह पकड़े है और समकालीन समस्याओं के प्रति जन चेतना जाग्रत की, वहाँ नारी को जन जागरण के एक सशक्त माध्यम के रूप में निरूपित भी किया।

भूमण्डलीकरण की अंधी दौड़ ने उत्तर औद्योगिक समाज को 'सूचना समाज' में बदल दिया। जबकि भूमण्डलीकरण का आधार बाजारवादी है, भोगवादी है- संवेदना का इसमें कोई स्थान नहीं है।

नारी की अपनी एक विशिष्ट विलक्षण दुनिया भी है और कुछ अपनी विशेष समस्यायें भी घर, परिवार, समाज, व्यवसाय राजनीति, स्वास्थ्य आदि प्रत्येक विषयों पर विभिन्न कार्यक्रमों, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर महिलाओं की भागीदारी बढ़ी है। रेडियो एवं

टेलीविजन ने भी उन्हें अभिव्यक्ति का एक सार्थक मंच भी प्रदान किया है। एफ.एम. म्याऊँ जैसे रेडियो चैनल महिलाओं के लिए शुरू हो चुके हैं। प्रिंट और इलेक्ट्रॉनिक मीडिया में नारी का विभिन्न रूपों में चित्रण मिलता है जैसे पत्नी, बहन और माँ के रूप में नज़र आती है। कहीं हमें ऐसा ही रूप अयूर हर्बल कोल्ड क्रीम। घर का करते-करते थक जाने के बाद वह 'मूव' मालिश करती है, बच्चों को जॉनसन 'बेबी सोप' से अथवा 'पियर्स' से नहलाती है। बच्चों का ख्याल रखती नारी उन्हें शारीरिक और मानसिक तंदुरुस्ती प्रदान करने के लिए 'बोर्नविटा' और 'माइलो' आदि देती हैं तथा बच्चे को सर्दी से बचाने के लिए बच्चे की नाक और छाती पर 'विक्स' लगाती है। परिवार के मुखिया के हार्ट की रक्षा के लिए वह केवल 'सफोला गोल्ड' ही खरीदती है। परिवार के स्वास्थ्य की रक्षा के लिए वह 'डेटॉल' साबुन इस्तेमाल करती है।

विज्ञापनों में नारी का माँ के रूप में 'वात्सल्य' भी बढ़ा-चढ़ाकर दिखाया जाता है। चोर के घर में घुस जाने और ख़ाँसी की दवाई पिलाकर घर के सदस्य की भाँति एहसास कराती है। इसी प्रकार 'एड्स' के विज्ञापन में शबाना आजमी और स्वास्थ्य रक्षा टीकों के लिए जूही चावला तथा पल्लवी जोशी जैसी सिने तारिकाओं की उपस्थिति समाज में सकारात्मक सोच पैदा करती है। वास्तव में नारी को विभिन्न रूपों में दिखाकर विज्ञापनकर्ता अपने उत्पाद के सन्दर्भ में लोगों में विश्वसनीयता जमाना चाहता है ताकि लोग उत्पाद की तरफ आकर्षित हो और अधिक से अधिक सामान खरीदें।

वर्तमान समय में शिक्षा, नौकरी, देश-विदेश में प्रतिभा-प्रतिष्ठा, राजनीति, चिकित्सा, समाज व्यवस्था, सेवा भावना, विज्ञान, प्रौद्योगिकी, आत्मरक्षा की चेतना तथा इसी प्रकार के क्षेत्रों में नारी की रचनात्मक भूमिका को उजागर किया जा रहा है। मीडिया इस दिशा में क्रांतिकारी भूमिका निभा रहे हैं। प्रिंट मीडिया और इलेक्ट्रॉनिक मीडिया का नारी-जागरण की दिशा में किया गया यह प्रयास भारत के विकास की नई दिशा खोल दी। मीडिया ने नारी की छवि को भी निखारा है। किन्तु नारी की जिस भोगवादी छवि को उभारा जा रहा है उसे मनोरंजन, वासना अथवा उपभोग की वस्तु के रूप में प्रस्तुत किया है उसके परिणामस्वरूप महिला वर्ग पर अत्याचार और कामजन्य हिंसा को भी बढ़ावा दिया है और नारी को लगातार हिंसा और दुराचार का शिकार होना पड़ रहा है और सम्पूर्ण समाज को विकृत मानसिकता की ओर धकेल रही है।

मीडिया और आधुनिकीकरण की जो जबर्दस्त भूमिका है उसके साथ तालमेल बैठते हुए ही नारी अपनी अस्मिता, अधिकार और अपने सामाजिक पक्ष को मजबूत कर सकेगी। सवैधानिक समानता के अधिकारों ने जैसे उसकी चेतना एवं आत्मविश्वास को बल प्रदान किया है। घूँघट एवं बुर्के में छिपी और हाथ में झाड़ू, बर्तन, कपड़े, खाना पकाने के साधनों के अलावा डॉक्टर, नर्स, पायलट, सी. ए. इन्जीनियर्स एवं जीवन के विभिन्न क्षेत्रों के कार्य संचालन में पूर्ण योग दे रही है। ग्रामीण आंचल की औरत हो या शहरी महिला वह अपने अस्तित्व के लिए सोचने लगी हैं वह समझने लगी है कि यदि उसे अपनी अस्मिता बचानी है तो उसे अपनी योग्यता, प्रतिभा एवं कार्य क्षमता से उन कार्यों को भी हाथ में लेना जो अभी तक पुरुष वर्ग के क्षेत्र में रहे हैं।<sup>17</sup>

शिक्षा एवं आत्मनिर्भरता ने उसकी प्राचीन तस्वीर में तोड़फोड़ की है और तब तक ये तोड़फोड़ जारी रहेगी जब तक वह वांछित सम्मानजनक सामाजिक स्वीकृति प्राप्त नहीं कर

लेती-न डर ए इन्सान शूलों से, राह में महकते फूलों की कमी नहीं, जो चाहो जमीं पर तारे लाना, समझो आसमां तुमसे दूर नहीं।<sup>18</sup>

हंसराज सुमन अपने लेख में लिखते हैं 'स्त्री को अर्द्धांगिनी के रूप में तो पुरुष ने स्वीकार किया है, पर बराबरी का हक कभी नहीं दिया। जब स्त्री अपने हक की बात करती है, तो पुरुष बिलबिला जाता है और स्त्री के मुंह पर कालिक पोतता है। कभी ईट-पत्थरों से लहलुहान करता है, कभी अशिष्ट भाषा बोलकर अपमान करता है। देश में भ्रूण हत्याएं भी स्त्री को स्वतंत्र अभिव्यक्ति के कारण ही हो रही है। जैसे-जैसे स्त्री जागरुक होगी, वैसे-वैसे धर्मसत्ता एवं पितृसत्ता की दीवारें टूटेंगी। ज़रूरत है स्त्री को जागरुक और शिक्षित होने की।'<sup>19</sup>

इसी क्रम में राजेंद्र यादव के लेख और 'तसलीमा नसरीने' होंगी में लिखा है- यह एक अनिवार्य स्थिति है जब-जब स्त्री अपनी स्वतंत्रता की बात करेगी, उसे धर्म के खिलाफ बोलना पड़ेगा, क्योंकि हर धर्म स्त्री का शत्रु है। वह उसे अधिक से अधिक गुलाम बनाए रखना चाहता है। धर्म अनिवार्यता एक पुरुषवादी 'कन्स्ट्रक्ट' है। सारे मुख्य देवता और पैगम्बर पुरुष हैं और वे ही अपनी सुविधा के लिए नियम कायदे बनाते हैं।। उन्हें स्त्री चाहिए, मगर पर्दा में ढकी हुई, कोठरियों में कैद और बेजुबान। तसलीमा जैसी एक निर्भीक स्त्रीवादी लेखिका नहीं।<sup>20</sup>

भारत में मीडिया की शुरुआत एक मिशन के रूप में हुई थी, जिसका उद्देश्य समाजहित तथा देशहित था, लेकिन अब मीडिया एक व्यवसाय बन गया है और बढ़ गया है मनोरंजन। इसने मीडिया की तकनीक को बदला है। नई साज-सज्जा भाई है, नया मिजाज, नये पत्रकार नये संपादक, नई तकनीक यानी सब कुछ नया दिखाई दे रहा है, सिर्फ मिलिक्यत ही पुरानी है। इस नई फौज ने नई भूख, नई चाहत, नये सपने, नये द्वंद्व, नये संघर्ष दिये हैं। पहले युवा डॉक्टर एवं इंजीनियर बनना अधिक पसंद करते थे, लेकिन अब पत्रकार एवं अभिनेता बनना पसन्द कर रहे हैं, क्योंकि इसमें ग्लैमर है और पैसा भी।

अंग्रेज़ी के एक महान् कवि टी.एस. इलियट ने इस सच्चाई को इन शब्दों में व्यक्त किया है-The world truns and world change,/But one thing does not change./In all my years, one thing does not change./The perpetual struggle of good and Evil.<sup>21</sup>

दुनिया घूमती और दुनिया बदलती है लेकिन एक चीज़ नहीं बदलती है वह जीवन के अनुभवों के अनेक वर्षों में एक चीज़ नहीं बदलती। चाहे इसे कितना ही पाओ, यह चीज़ नहीं बदलती। अच्छाई और बुराई का अंतहीन संघर्ष।

फ्रांसीसी दार्शनिक देकार्त की तर्ज पर ही ऐसे सत्य पर पहुँच सकते हैं कि "वह सन्देह करता है इसलिए निःसन्देह है।"<sup>22</sup>

अतः कोई भी बात चाहे कितनी ही सुहानी या तार्किक लगे, अगर वह मनुष्य के अस्तित्व को खतरे में डालती है, उसे पीड़ा पहुँचाती है तो नकारने योग्य है-दलित और आदिवासी अगर अस्मिता और अस्तित्व की बात कर अपने अधिकार और आरक्षण की कवायद करें तो मनुवादी और पूंजीवादी मानसिकता वाली बिरादरी तथा पत्र-पत्रिकाएं उनके विरुद्ध एकजुट हो जाए। यह कैसा अन्तर्विरोध है कि एक ओर जहाँ आदिवासी और दलितों को निजी क्षेत्रों में आरक्षण के लिए भीख मांगनी पड़ रही है, वहीं दूसरी ओर आरक्षण का विरोध करने वाले पूंजीपतियों द्वारा हाशिए के लोगों को उनकी जमीन एवं जंगल से बेदखल



कर देने में कोई हिचक नहीं है।<sup>23</sup>

मौजूदा परिस्थिति में जब भूमण्डलीकरण, उदारीकरण एवं बाज़ारीकरण के दुष्परिणाम दलित, आदिवासी, पिछड़ों एवं उनकी महिलाओं पर अभूतपूर्व रीति से अपना शिकंजा कस रहे हैं, तब इन सबकी मुक्ति संघर्ष और भी प्रासंगिक हो जाता है।

आँकड़ों से जाहिर है कि पाठकों की ओर से कोई समस्या नहीं है। पाठक आज भी है यदि कई बड़ी पत्र-पत्रिकाएं बन्द या स्थगित हुईं तो उसके लिए पाठक दोषी नहीं है। दोष उन पत्र-पत्रिकाओं का है जिन्होंने समय के साथ कदम ताल नहीं किया, न पाठकों की रुचि का ध्यान रखा जा रहा है और कहने को कहा जाता है कि जो पत्र-पत्रिकाएं लाखों में बिक रही हैं। उनमें कुछ का स्तर वैदिक दृष्टि से बहुत कमजोर है पर ज्यादातर पत्रिकाएं स्तरीय ही हैं। 'इण्डिया टुडे' को उदाहरण के रूप में लिया जा सकता है।

अधिकांश पत्र-पत्रिकाओं के बन्द होने से हिन्दी साहित्य में एक गतिरोध और सन्नाटे की जो स्थिति पैदा हुई थी, उसे हिन्दी के समाचार पत्र जगत ने गम्भीरता से महसूस किया तभी तो 'जनसत्ता कलकत्ता' का दीपावली विशेषांक, इण्डिया टुडे की साहित्य वार्षिकी, अक्षर पूर्ण: 'देशबन्धु', 'प्रभात खबर', 'लोकमत समाचार', 'नवभारत', 'नई दुनिया' के विशेषांक आने शुरू हुए। इन विशेषांकों ने साहित्य, लेखक और पाठक के बीच चौड़ी खाई को न सिर्फ पाया है, बल्कि उसके बीच कायम हुए गतिरोध को दूर करते हुए एक जीवन्त संवाद भी कायम किया।<sup>24</sup>

निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि हिन्दी अस्मिता की पत्रकारिता पर संकट गहराया है दलितों, अल्पसंख्यकों, राजनीतिज्ञों, आदिवासियों और नारी समुदाय आदि की अस्मिता पर अनेक सवाल उठ खड़े हुए हैं। आखिर कब तक यह अपने अस्मिता के लिए लड़ते रहेंगे? तभी तो इनका अन्त सम्भव होगा। उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर हम कह सकते हैं कि इन सभी वर्गों ने वर्तमान समय में अपने पर आने वाले संकट एवं चुनौतियों से टकराना सीख लिया है, यह हम सभी के लिए गर्व की बात है।

### सन्दर्भ सूची-

1. कृपाशंकर चौबे, पत्रकारिता के उत्तर आधुनिक चरण, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 105
2. डॉ. वेदप्रकाश अमिताभ, अभिनव प्रसंगवश (जुलाई-दिसम्बर 2003), पृ. 66
3. वही, पृ. 66
4. वही, पृ. 66
5. वही, पृ. 67
6. वही, पृ. 67
7. पत्रकारिता के उत्तर आधुनिक चरण, पृ. 106
8. सच्चिदानन्द सिन्हा, भूमण्डलीकरण की चुनौतियाँ, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 106
9. कमल कान्त प्रसाद, हम दलित (जून 2005), सोशल एक्शन ट्रस्ट, नई दिल्ली, अंक 7, पृ. 14
10. वही, पृ. 14
11. वही, पृ. 12
12. (सं.) दीपक कुमार एवं देवेन्द्र चौबे, हाशिये का वृत्तांत, आधार प्रकाशन लि., दिल्ली, पृ. 352
13. वही, पृ. 354
14. वही, पृ. 359
15. हम दलित (जून 2006), अंक 5, पृ. 11

16. हम दलित (जून 2005), अंक 8, पृ. 10
17. हाशिये का वृत्तांत, पृ. 73
18. (सं.) विनायक पाण्डेय, वीणा, सर्वोत्तम ऑफसेट, जी-8, स्वदेश भवन, ए.बी. रोड, इंदौर-8, पृ. 18
19. (सं.) डॉ. रचना सिंह, नारी अस्मिता (मार्च-मई 2006), पृ. 3
20. वही, पृ. 3
21. वही, पृ. 3
22. डॉ. जोसेफ मरियानुस कुजूर, हाशिये की आवाज़ (जुलाई 2008), सोशल एक्शन ट्रस्ट, 10 ई, एरिया नई दिल्ली-3, पृ. 40
23. नारी अस्मिता (मार्च-मई 2006), पृ. 3
24. पत्रकारिता के उत्तर आधुनिक चरण, पृ. 107-108

एसो. प्रो. हिन्दी विभाग, कला संकाय, डी.ई.आई. (डीम्ड विश्वविद्यालय), दयालबाग, आगरा

### हिन्दी के मुस्लिम कथाकार : शानी

हिन्दी में वह स्त्री-विमर्श का दौर नहीं था। स्त्री यहाँ सिर्फ सहती, घुटती और रोती है, बिना किसी सक्रिय प्रतिरोध के। समाज चाहे मुस्लिम हो या हिन्दू, उसकी यातना का अंत नहीं है। निम्न मध्यवर्गीय समाज में, दुनिया-जहान से कटे एक द्वीप के मानिन्द समाज में, प्रगति, विकास और शिक्षा के अभाव में स्त्री जैसी हो सकती थी वैसी ही यहाँ है। सामन्ती रियासतों के अमल और आदिवासी समाज की लम्बी होती छायाओं के बीच स्त्री जो हो सकती थी, उसी का एक अन्तरंग और विश्वासनीय चित्र 'काला जल' में देखा जा सकता है। मूल्य-500/-

### मुस्लिम विमर्श : साहित्य के आईने में



विभाजित भारत में मुसलमानों की दशा और उनके संघर्ष का उल्लेख मुस्लिम उपन्यासकारों ने बड़ी बेबाकी से किया है। जिसमें राही मासूम रज़ा का आधा गाँव, शानी का काला जल, अब्दुल विस्मिल्लाह का झीनी-झीनी बीनी चदरियाँ, नासिरा शर्मा का ज़िंदा मुहावरे, मंजूर एहतेशाम का सूखा बरगद, बदीउज्जमाँ का छाको की वापसी उपन्यास विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण हैं। इन उपन्यासों के द्वारा भारतीय समाज के आधुनिक युग के मुस्लिम मन को आसानी से समझा जा सकता है।

## बच्चन कृत मधुशाला का अनुभूति पक्ष: एक अध्ययन

कनुभाई करशनभाई भवा

हरिवंशराय बच्चन हिन्दी साहित्य के लोकप्रिय एवं हालावाद के प्रवर्तक कवि है। इनकी कविता अन्तः प्रेरित और सहज सिद्ध कविता है। कवि ने काव्य हाला पिलाकर सबको काव्य रस से तरबतर कर दिया है। बच्चन की कविता कोटि-कोटि जनगण का कण्ठहार बनी हुई है। कवि की काव्य साधना उनकी जीवन साधना के समान्तर चली है। उनका सौंदर्यबोध शाश्वत जीवन पर और जीवन दर्शन भारतीय अध्यात्म पर आश्रित है। आधुनिक हिन्दी कवियों में सुमित्रानंदन पंत को बच्चन ने सबसे अधिक पढ़ा है तो दूसरी तरफ अंग्रेज़ी के पुराने कवियों में शेक्सपियर और आधुनिक कवियों में डब्ल्यू. बी. ईट्स उनके प्रिय कवि रहे हैं। बच्चन रसवादी कवि है। उनकीदृष्टि से रसविहीन कविता बेकार है। वे न केवल भाव के कवि हैं, बल्कि एक उत्तम शैलीकार भी हैं। उनकी शैली उनके व्यक्तित्व का शब्द-रूप है, जिससे हम उन्हें सहज ही पहचान सकते हैं। वे जनजीवन के कलाकार हैं, उनकी शैली सहज, सरल, सुलभ, सुबोध और प्रभावपूर्ण है। इस प्रकार युग प्रवर्तक कवि हरिवंशराय बच्चन ने हिन्दी साहित्य और जन हृदय में अपना अनोखा स्थान बनाया है।

‘मधुशाला’ कवि हरिवंशराय बच्चन की ऐसी काव्यकृति है जो बीसवीं सदी की सर्वाधिक लोकप्रिय एवं प्रख्यात कृतियों में से एक है। मधुशाला काव्य-संग्रह ने बच्चन जी की प्रसिद्धि और लोकप्रियता को चरम शिखर पर पहुँचाया। कवि ने 4 जून 1933 से मधुशाला लिखना प्रारंभ कर अप्रैल 1934 में 135 रुबाइयाँ लिखकर पूर्ण किया और इसका प्रकाशन सन् 1937 में हुआ। मधुशाला कवि के व्यक्तिगत जीवन की उथल-पुथल के साथ तत्कालीन परिवेशगत प्रभाव को व्यक्त करती है। कवि बच्चन एक युग दृष्टा शब्द शिल्पी कवि के रूप में उभर कर हमारे सामने आये हैं। सिद्धहस्त लेखक ने हिन्दी साहित्य की अनेक विधाओं को अपनी लेखनी से एक नया आयाम दिया है। कवि ने मधुशाला, मधुकलश, निशा-निमंत्रण, एकांत संगीत के गीत सुनाकर अभूतपूर्व लोकप्रियता प्राप्त की और नरेश शर्मा - ‘बच्चन को कवि सम्मेलनों का बेताज बादशाह मानते हैं।’<sup>1</sup> कवि सम्मलेन किसी भी नए कवि की प्रसिद्धि के लिए अच्छा माध्यम होता है। बच्चन भी इससे अछूते नहीं रहे। सन् 1933 में बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय में कवि सम्मेलन के दौरान अनजान कवि बच्चन ने अपने सुललित कंठ से ‘मधुशाला’ को सस्वर सुनाना शुरू किया तो सभी श्रोता झूम उठे थे। वाह-वाह और तालियों की गडगडाहट से धरती आसमान गूँज उठा था। नरेश शर्मा के अनुसार - ‘बच्चन ने पहली बार सहृदय श्रोताओं के जमघट में घुसकर धड़ल्ले से मधुस्फोट किया।’<sup>2</sup> बच्चन के संदर्भ में प्रेमचंद ने भी लिखा है कि - ‘मद्रास के लोग अगर किसी हिन्दी कवि का नाम जानते हैं तो

वह 'बच्चन' का नाम है।<sup>13</sup> हरिवंशराय को अपनी बहुमुखी प्रतिभा के लिए अनेक अलंकरण एवं उपाधियों से सम्मानित भी किया गया है।

सन् 1937 में प्रकाशित और बीसवीं सदी की सर्वाधिक लोकप्रिय व प्रख्यात कृति मधुशाला के कवि ने प्रकृति के स्थूल रूप के प्रति विद्रोह न कर उसे सूक्ष्म का आकार देकर आभ्यांतरिक प्रकृति को अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया है। उनका प्रकृति चित्रण मानवसापेक्ष कट्टरता एवं कठोरता को चुनौती देता है। सामाजिक रूढ़िवादिता को कवि ने मधुशाला में चुनौती दी है। प्रेमानुभूति, मधुशाला के भावपक्ष का महत्त्वपूर्ण आयाम रहा है, जिसमें कवि की राष्ट्र से, मानव से, सौंदर्य से, प्रकृति से, ईश्वर से प्रेम भावना व्यक्त हुई है। दुःख को जीवन की साधना मानने वाले बच्चन दुःख रूपी हलाहल को हँसते हुए पीकर कर्मण्यवादी बनकर भविष्य के कष्टों को झेलने के लिए तैयार रहने का पाठ सिखाते हैं। इसलिए तत्कालीन स्थितियों में नरक-सा जीवन जीने वाले निराश मानव के मन में कवि ने मधुशाला के माध्यम से जिजीविषा जगाई है। सौंदर्य भी मधुशाला काव्य कृति का एक महत्त्वपूर्ण भाव रहा है, जिसमें नारी सौंदर्य, प्रकृति सौंदर्य, मानव सौंदर्य आदि को सुकोमल मन के कवि ने बड़े ही शालीन भाव से व्यक्त किया है।

कवि ने मधुशाला काव्यकृति में प्रकृति सौंदर्य, मानव सौंदर्य, नारी सौंदर्य व आध्यात्मिक सौंदर्य की अभिव्यक्ति की है। ईश्वर ने संसार में प्रकृति से लेकर मानव तक सभी में सुन्दरता भर दी है। बच्चन ने मधुशाला काव्यकृति में सौंदर्य की अच्छी परख की है। कवि ने प्राकृतिक चित्रणों में प्रायः अपनी भावनाओं का सौंदर्य मिलाकर उन्हें ऐन्द्रिक चित्रण के योग्य बनाया है तथा नारी सौंदर्य के सुन्दर चित्र भी उपस्थित होते हैं। मानव का बाह्य रूप तो सौंदर्य की दृष्टि से खुद होता है, पर उसमें आंतरिक सौंदर्य भी छिपा रहता है। कहीं-कहीं पर आध्यात्मिक सौंदर्य की झलक भी मिलती है। इस प्रकार कवि ने व्यापक सौंदर्यानुभूति का चित्रण किया है। प्रस्तुत पंक्तियाँ मानव के आंतरिक सौंदर्य को प्रस्तुत करती हैं - बुरा सदा कहलाया जग में/बाँका, मद-चंचल प्याला/छैल-छबीला रसिया साकी/अलबेला पीने वाला।<sup>14</sup>

उक्त वर्णन में प्याला, बाँका, चंचल है तो रसिया साकी छैल-छबीला है और पीने वाला अलबेला है। मधुशाला के द्वारा कवि हरिवंशराय बच्चन ने सामाजिक रूढ़िवादिता एवं नैतिकता के विरुद्ध अपनी आवाज़ को ज़िंदा किया और साथ ही उस समय के जन-जीवन में व्याप्त निराशा, असंतोष, अकर्मण्यता, अंध-विश्वासों, रूढ़ियों आदि का खुलकर चुनौती देकर मधुशाला के विद्रोही स्वर के माध्यम से सोये समाज को सजग कर उनमें चेतना, प्रेरणा, रोष और उद्घोष उत्पन्न किया है-धर्म-ग्रंथ सब जला चुकी है/जिसके अंतर की ज्वाला/मंदिर, मस्जिद, गिरजे सबको/तोड़ चुका जो मतवाला/पंडित, मोमिन, पादरियों के/फंदों को जो काट चुका/कर सकती है आज उसी का/स्वागत मेरी मधुशाला।<sup>15</sup>

प्रस्तुत पंक्तियों में कवि की मधुशाला केवल उन्हीं का स्वागत करती है जो रूढ़ियों, परंपराओं, अंध मान्यताओं, सड़े-गले मूल्यों, लचर प्रतिमानों को लात मार चुका हो, जो मंदिर, मस्जिद, गिरजे के नाम का सहारा लेकर भेदभाव न करते हो और पंडित, मोमिन, पादरियों के फंदों की बेड़ियाँ काट चुके हो। यहाँ कवि का असंतोष और विद्रोहात्मक स्वर प्रमुख होता है।

प्रस्तुत काव्यकृति में बच्चन ने कुछ स्थानों पर देश के प्रति अपनी प्रेमभावना की अभिव्यक्ति की है। कवि मधुशाला के माध्यम से व्यक्ति व देशवासियों में बलिदान, त्याग और

अपनत्व-अर्पण करने की प्रेरणा को जाग्रत करते हैं। देशवासियों के हृदय में देश के प्रति अटूट देशभक्ति की भावना एवं राष्ट्र प्रेम को जाग्रत करने के लिए संपूर्ण भारत वर्ष को एक पवित्र 'मधुशाला' के रूप में देखा और अंकित किया है - "हिम श्रेणी अंगूर लता-सी/फैली हिम जल है हाला/चंचल नदियाँ साकी बनकर/भरकर लहरों का प्याला/कोमल कूल-करों में अपने/छलकाती निशिदिन चलती/पीकर खेत खड़े लहराते/भारत पावन मधुशाला"<sup>6</sup>

मधुशाला काव्य कृति में बच्चन ने यह महसूस किया था कि लोग भूतकाल के दारुण दुखों तथा जीवन में उत्पन्न श्रम, संकट, व्याधियाँ, नियति के कठोराघात के कारण इन्सान गौरव एवं गर्व से जी नहीं सकता। जीवन के प्रति जनसाधारण की आस्था खत्म हो जाती है। ऐसे समय में कवि जीवन के प्रति आस्था, जिजीविषा जगाने का प्रयत्न करते हैं। इन्सान को जीवन, नरक की दहकती हुई ज्वाला-सा लगता है पर कवि जानता है कि मधुशाला की मधुरता मनुष्य को नरक की दहकती ज्वालाओं से भी बचा लेगी-"हमें नरक की ज्वाला में भी/दिख पड़ेगी मधुशाला"<sup>7</sup>

मधुशाला प्रेम सौंदर्य की एक अत्यंत लोकप्रिय रचना है। कवि का सौंदर्य प्रेम उत्तेजना देने वाला अनिवार्य तत्त्व है। देशप्रेम भारतवासियों के हृदय में अटूट देशभक्ति की भावना जाग्रत करने वाला है। कहीं-कहीं कवि ने प्रेम प्रणय की अनुभूति को भी अभिव्यक्ति प्रदान की है। मानव के प्रति भी अपनी प्रेम भावना की अभिव्यक्ति की है। कवि की मनोकामना प्रकृति के अस्तित्व की जीवन सापेक्ष स्थिति ही स्वीकार करती है। कवि स्वयं कहते हैं कि -"जब कभी मैं प्रकृति के समीप गया हूँ तो अपनी भावनाओं से इतना अतिरंजित हुआ की उसमें भी मुझे अपनी ही छाया दिखाई दी है।"<sup>8</sup> अंत में कवि जानता है कि संसार के कण-कण में ईश्वर बसा हुआ है। अतः वह प्रियतम(ईश्वर) को हाला और स्वयं को प्याला बनाकर उस प्रियतम रूपी परमात्मा के साथ एकाकार होने की भावना प्रस्तुत करता है। इस प्रकार कवि ने सौंदर्य प्रेम, देशप्रेम, प्रणय प्रेम तथा ईश्वरीय प्रेम की अभिव्यक्ति की है।

हरिवंशराय बच्चन ने मधुशाला में अपनी भावनाओं को प्रकृति के साथ जोड़ा है। सूर्य, समुद्र, बादल, जल, भूमि, पौधा, फूल, भ्रमरदल, डालियाँ, पंछी, रौशनी, हिम, नदियाँ आदि का अत्यंत सुन्दर और यथार्थ वर्णन किया है-"सूर्य बने मधु का विक्रेता/सिन्धु बने घट, जल हाला।"<sup>9</sup>

मनुष्य के लिए जीवन एक अनबूझ पहेली-सा बना हुआ है। इस पहेली को कोई समझ नहीं सकता। कवि को अपने जीवन में दुःख-पीड़ा आदि का गहरा परिचय था। इन सबसे मुक्ति पाने की कोशिश में दार्शनिकता का उदय होता दिखाई पड़ता है। कवि मधुशाला को ही ईश्वर का सर्वोच्च स्थान मानते हैं। विश्व के प्रत्येक पथिक ईश्वर तक पहुँचने या ईश्वर को पाने के लिए अलग-अलग रास्ते अपनाता है, किन्तु ईश्वर को पाने का केवल एक ही रास्ता कवि को सूझता है और वह है मधुशाला। कवि मधुशाला को ही एक धर्म और दर्शन का गूढ़ गंभीर ग्रंथ मानते हैं। संसार में मृत्यु की आशंका मनुष्य के वर्तमान सुख में बाधा डाल देती है किन्तु मधुशाला मौत के आतंक से बचाकर मनुष्य को मस्ती में जीना सिखाती है।

हरिवंशराय जी अपने विशाल और समृद्ध साहित्य के आधार पर हिन्दी साहित्य में उच्च स्थान के अधिकारी हैं। मधुशाला लिखते हुए कवि ने वाणी के अभूतपूर्व उल्लास का अनुभव किया था। मधुशाला की मूल शक्ति समाज, धर्म और राजनीति की रूढ़-सीमा को तोड़ने वाली अभिव्यंजना में समाई है। मधुशाला का मधु मध नहीं, कारण है। मधुशाला के भाव में बच्चन

काव्य का प्रयोजन, आनंद और लोकहित की भावना मानते हैं। इस प्रकार मधुशाला काव्य कृति के माध्यम से बच्चन ने अपने सौन्दर्योपासक हृदय के मादक आनंद को वाणी की रस मुग्ध प्याली में उड़ेलने का प्रयत्न किया है। उनकी मधुशाला मदिरा की नहीं अपनी मस्ती बनी है, जिस मस्ती में उन्होंने जगत को भी मस्त बनाने की ठानी है, किन्तु मधुशाला एक प्रतीकात्मक रचना है। इसलिए उसे अभिधा से नहीं व्यंजना से समझना चाहिए, क्योंकि वह नव भारत के नव यौवन या चढ़ती जवानी के उन्माद को प्रतिबिम्बित करती है।

अतः अनुभूतियों की दृष्टि से मधुशाला में वैविध्य विद्यमान है। मधुशाला का मूल भाव समाज, धर्म और राजनीति की रूढ़ियों को तोड़ने वाला है। इसमें व्यापकता है, समन्वयात्मकता है और मानवता का उच्चादर्श है तथा अनुभूति की सम्पन्नता में व्यक्तिगत आनंद और लोकहित की भावना से परिपूर्ण रचना है। साथ ही साथ भारतीय संस्कृति के उज्वल रूप को प्रस्तुत करती है।

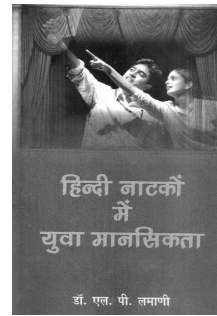
### संदर्भ सूची-

1. (सं.) बाँके बिहारी भटनागर, बच्चन : व्यक्ति और कवि, पृ. 15
2. (सं.) सजित कुमार/ओंकारनाथ श्रीवास्तव, बच्चन निकट से, पृ. 36-37
3. बच्चन, क्या भूलूँ क्या याद करूँ, पृ. 339
4. बच्चन, मधुशाला, पचासवाँ संस्करण, रुबाई, पृ. 23
5. वही, पृ. 17
6. वही, पृ. 33
7. वही, पृ. 75
8. बच्चन, नए पुराने झरोखे, पृ. 35
9. बच्चन, मधुशाला, रुबाई, पृ. 3

गाँव - कळसार, तहसील-महुवा, जिला-भावनगर, पिन-364130 (गुजरात)

### हिन्दी नाटकों में युवा मानसिकता

भारतीय युवा का अपना इतिहास है। उसकी मानसिकता को समझने का एक सशक्त साहित्यिक माध्यम है नाटक। प्राचीन काल से लेकर अंग्रेजों के आने तक के इतिहास से स्पष्ट होता है कि भारतीय युवा अपनी अस्मिता और व्यक्तित्व के प्रति बहुत सजग नहीं थे। परिवार में बड़े के आज्ञा पालन में ही अपने जीवन की कृतार्थता माना उनके जीवन का लक्ष्य रहा था।... 1857 ई. के बाद जब देश अंग्रेजी शिक्षा के सम्पर्क में असया तब से धीरे- धीरे... भारतीय युवकों को अपने अस्तित्व की सीमाओं का एहसास होने लगा। **मूल्य -295**



## महिला लेखन: विविध पहलू

Dr. Ritu Bhanot

हिन्दी साहित्य में पिछले कुछ दशकों से स्त्री विमर्श के समानान्तर एक और मुद्दा उठा है जो धीरे-धीरे बहस में परिवर्तित होता जा रहा है- वह है महिला लेखन। इस मुद्दे पर सभी साहित्यकार, आलोचक तथा बुद्धिजीवी दो खेमों में बंट चुके हैं। पहला खेमा यह मानता है कि लेखन को पुरुष अथवा महिला के साँचों में विभक्त नहीं किया जा सकता, लेखन मात्र लेखन होता है। पुरुष हों अथवा महिला, दोनों ही लेखक समाज की कुरीतियों पर चोट करते हैं, आंदोलित होते हैं तथा उनकी संवेदनशीलता सहानुभूति की भावभूमि पर साधारणीकृत होकर, स्त्री, दलित अथवा अन्य किसी भी वर्ग की पीड़ा को लेखनीबद्ध करती है। दूसरा खेमा ठीक इसके विपरीत यह धारणा प्रकट करता है कि 'जाके पैर न फटी बिवाई, सो क्या जाने पीर पराई' के अनुसार स्त्री की पीड़ा को केवल स्त्री ही भोगती है, झेलती है, अतः स्त्री पीड़ा की मौलिक अभिव्यक्ति केवल महिला लेखन में ही संभव है। "अब तक औरत के बारे में पुरुष ने जो कुछ भी लिखा, उस पूरे पर शक करना चाहिए, क्योंकि लिखने वाला न्यायाधीश और अपराधी दोनों है। साहित्य में औरत के विरुद्ध जो बर्बर दोषारोपण हुआ है, उससे हम सब परिचित हैं।"<sup>1</sup>

स्त्री विमर्श को महिला लेखन से आबद्ध करने पर यह तर्क उभरता है कि पुरुष के लिए स्त्री पीड़ा अनुमान है परन्तु स्त्री के लिए वह अनुभव है, जिसे वह अपने 'स्व' पर जीती है। अतः अनुमान और अनुभव के बीच जो अंतराल है, वही अंतराल महिला लेखन और पुरुष लेखन में व्याप्त है। "पुरुष के द्वारा नारी चित्रण अधिक आदर्श बन सकता है, परन्तु अधिक सत्य नहीं, विकृति के अधिक निकट पहुँच सकता है, किन्तु यथार्थ के अधिक समीप नहीं। पुरुष के लिए नारीत्व अनुमान है और स्त्री के लिए अनुभव। अतः अपने जीवन का जैसा सजीव चित्र वह हमें दे सकेंगी वैसा पुरुष बहुत साधना के उपरान्त भी शायद दे सके।"<sup>2</sup> महिला लेखन के इसी तर्क पर आधारित स्त्रीत्ववादी अथवा स्त्रीवादी साहित्य की माँग भी जोर पकड़ने लगी है। स्त्री की अनुभूति पर आधारित साहित्य 'स्त्री साहित्य' कहलाता है। स्त्री की वह अनुभूतियाँ जो सदियों से दमित, उत्पीड़ित तथा मूक थी, जब उन्हें शब्द मिले, अभिव्यक्ति मिली तो स्त्री साहित्य अस्तित्व में आया। 'स्त्री साहित्य' के अतिरिक्त 'स्त्रीवादी साहित्य' भी प्रचलन में है। 'स्त्री साहित्य' की अनिवार्य शर्त रचनाकार का स्त्री होना है वहीं 'स्त्रीवादी साहित्य' पुरुष अथवा स्त्री, किसी के भी द्वारा रचित हो सकता है परन्तु स्त्री की समस्याओं और स्त्री की अनुभूति की अभिव्यक्ति करना उसके लिए लाज़मी है। "स्त्री

साहित्य वह है जो स्त्री रचित है। स्त्री रचित होने के कारण ही उसे उस 'स्त्री साहित्य' की कोटि में रखा जाता है। किंतु 'स्त्रीवादी साहित्य' स्त्री-पुरुष दोनों का लिखा हो सकता है। यह ऐसा साहित्य है जो स्त्री के हितों एवं स्त्रीवादी राजनीति का पक्षधर होता है।<sup>3</sup>

स्त्री विमर्श हिन्दी साहित्य में नवीनतम आंदोलन है। स्त्री विमर्श अर्थात् साहित्य के माध्यम से स्त्री की दशा और दिशा पर विचार, उसे मानव समझने का आग्रह तथा उसके दमित, शोषित अस्तित्व का प्रस्फुटन। "स्त्री विमर्श से भाव है - स्त्री के सम्पूर्ण अंतरंग और बहिरंग को समझने की कोशिश। आवरणों और जकड़नों को भेद कर बाहर आई स्त्री का मन, स्त्री की सोच, दृष्टि, समस्याओं, स्थितियों और मनःस्थितियों का विश्लेषण। स्त्री का 'मुक्ति' 'स्वातंत्र्य' और 'चेतना' जैसे शब्दों से क्या रिश्ता बन पाया है और उसकी सोच की दशा क्या है, यह भी इसी विमर्श का हिस्सा है।"<sup>4</sup> समाज और साहित्य में दोगुनी स्थिति पर जी रही स्त्री ने बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में अपनी चुप्पी तोड़ी है। उसने जेंडर बेस्ड अर्थात् लिंग आधारित भेदभाव को चुनौती देते हुए पितृसत्तात्मक व्यवस्था की नींव पर चोट पहुँचाई है। स्त्रियों ने जब अपनी पीड़ा को साहित्य की विभिन्न विधाओं यथा- कहानी, उपन्यास, कविता, नाटक, संस्मरण, आत्मकथा तथा आलोचना के माध्यम से अपनी तरह से व्यक्त किया तो उस स्त्री विमर्श के नाम से अभिहित किया गया। स्त्री ने जब मर्दवादी भाषा को सिरे से खारिज करते हुए स्त्री भाषा की आवश्यकता पर बल दिया तो उनके लेखन पर प्रश्नचिह्न लगाते हुए उनकी 'बोल्डनेस' पर आपत्ति दर्ज की गई। संभवतः किसी ने यह नहीं सोचा कि आखिर स्त्री लिखती क्यों है? उसके लिए लेखन इतना अनिवार्य क्यों हो चला है कि उस लेखन के लिए वह इल्जाम भी अपने सिर लेती है, अपनी खिल्ली भी उड़वाती है और साहित्य तथा समाज दोनों में नकारी भी जाती है। "स्त्रियों के लिए लेखन हमेशा से ही अपना एक वैकल्पिक संसार रचने का माध्यम रहा है। समाज व परिवार में झूठी मर्यादाओं के दबाव तले जीती स्त्री के लिए अपने को पाने का माध्यम है यह लेखन। इस लेखन ने जहाँ उसे यथार्थ से टकराने का हौसला दिया, वहीं उसे बदलते हुए परिवेश व परिस्थिति में अपनी अस्मिता को साबित करने की ताकत भी दी। इसलिए स्त्री लेखन अपने समय और समाज के साथ बदल रहे उसके संबंधों का दस्तावेज है।"<sup>5</sup> स्त्री लेखन अथवा महिला लेखन जोखिम का कार्य है। इसी जोखिम के परिणामों को कम करने के लिए महिलाओं ने कभी छद्म नाम से रचनाएं रची, कभी पुरुष का उपनाम ओढ़ कर कृति का सृजन किया और कभी अज्ञात रहकर मात्र अपनी पीड़ा की शाब्दिक अभिव्यक्ति की। स्त्री विमर्श की बात हो अथवा महिला लेखन का संदर्भ, स्त्री भाषा की आवश्यकता बलवती होती जा रही है। भाषा ही पुरुष तथा स्त्री में संवाद का माध्यम है। पुरुष स्थापित भाषा में लिंगाधारित भेदभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। यह भाषागत भेदभाव का ही प्रभाव है कि समाज और साहित्य दोनों में स्त्री अधीनस्थ रही और पुरुष स्वामी बन बैठा। "अपने निजी मुहावरों के बावजूद स्त्री की अपनी कोई भाषा नहीं होती। वह भी मर्द की होती है जो स्त्री को शक्ति सम्पन्न जटिल होने का स्थायी भ्रम देती है। स्त्री विमर्श का सबसे जटिल पहलू यह है कि उसे पुरुष भाषा के वर्चस्व में ही अपनी बात कहनी है क्योंकि उसकी कोई अपनी भाषा नहीं है।"<sup>6</sup> हिन्दी भाषा पर पितृसत्तात्मक वर्चस्व की छाप सर्वत्र दृष्टिगोचर होती है। एक-दूसरे को नीचा दिखाने अथवा अपमानित करने के लिए परस्पर जो गालियां दी जाती हैं, वह भी स्त्री केन्द्रित होती हैं। स्त्री देह का अपमान हमारी भाषा की सर्वमान्य विशेषता है। गालियों में स्त्री को उछालना मानों



सभ्य होने का मापक ही बन गया है। “शब्दकोश में अर्धांगिनी, सहधर्मिणी जैसे शब्दों का कोई पुल्लिंग शब्द नहीं है...नष्ट या कलंकित यश पतित शब्द पुरुषों के लिए नहीं है, स्त्रियों के लिए व्यवहृत होते हैं। जैसे कि अंडे खराब हो जाते हैं, दूध बर्बाद हो जाता है, नारियल सड़ जाता है, वैसे ही औरत ‘पतित’ हो जाती है।” भाषा का दोगलापन वस्तुतः स्त्री को गूंगा बनाए रखने का पुरुषवादी षड्यंत्र है। सभ्यता के आदिकाल से ही पुरुष ने आर्थिक संसाधनों पर आधिपत्य जमा कर अपनी श्रेष्ठता सिद्ध की। मातृत्व के उत्तरदायित्व के कारण परिवार में स्त्री को अधीनस्थता और स्वयं को स्वामित्व सौंपा। धर्म, नैतिकता, आदर्श, मूल्य, सभी को पुरुष ने मनमाने अर्थ दिए। स्त्री की भूमिका का निर्धारण भी अपनी सुविधा और सुख के आधार पर किया। समय-समय पर बहुत सी विदुषियों ने साहित्य के क्षेत्र में अप्रतिम रचनाएं रचीं परन्तु साहित्य इतिहास के पन्ने स्त्री रचनाकारों के संस्पर्श से अछूते ही रहे। हिन्दी साहित्य के इतिहास में महिला रचनाकारों को वह स्थान नहीं मिल पाया, जिसकी वह अधिकारिणी थी। इतिहास के पृष्ठों में कुछेक स्त्री नाम दर्ज करवाकर पुरुष इतिहासकारों ने अपने कर्तव्य की इतिश्री कर ली। स्त्री साहित्य को साहित्य की मुख्यधारा में कभी सम्मिलित नहीं किया गया- “पुरुषों का साहित्य ही साहित्य कहलाया। साहित्य की मुख्यधारा में स्त्री साहित्य की अनुपस्थिति या इक्का-दुक्का लेखिकाओं की उपस्थिति वस्तुतः पितृसत्तात्मक नज़रिए के विचारधारात्मक वर्चस्व की द्योतक है।”<sup>8</sup>

मध्यकाल में प्रेम दीवानी मीरा ने अपने काव्य के द्वारा रूढ़िगत सामाजिक ढाँचे पर प्रहार करते हुए स्त्री शक्ति का परिचय दिया। महादेवी वर्मा द्वारा रचित ‘शृंखला की कड़ियाँ’ ने स्त्री विमर्श के लिए सकारात्मक भावभूमि तैयार की। महादेवी वर्मा ने स्त्री को अपने उत्थान के लिए प्रयत्नशील होने का आह्वान तो किया, साथ ही साथ समाज में स्त्री-पुरुष सम्बंधों की समस्तरीयता तथा समभाव पर भी जोर दिया। बीसवीं शताब्दी में स्त्री लेखिकाओं के तेवर उग्रतर हुए तथा हिन्दी साहित्य में स्त्री से जुड़े अनछुए पहलुओं को भी उजागर किया गया। कृष्णा सोबती, उषा प्रियंवदा, मृदुला गर्ग, मैत्रेयी पुष्पा, चित्रा मुद्गल, मन्नु भंडारी, जया जादवानी, नासिरा शर्मा, अनामिका, प्रभा खेतान, कृष्णा अग्निहोत्री, रेखा कस्तवार, गीताश्री, मृणाल पाण्डे, क्षमा शर्मा जैसे असंख्य नाम स्त्री की पक्षधरता में सृजनरत्न हुए। भारत में स्त्री से जुड़ी शोषण की जड़ परम्पराओं पर प्रहार करने के लिए कुछेक समाज सुधारक पुरुष तथा असंख्य गुमनाम स्त्रियां निरन्तर प्रयत्नशील रहे हैं। स्त्रियों को उनके अधिकार दिलवाने में सामाजिक, राजनीतिक तथा साहित्यिक पहल मुख्यतः स्त्रियों की ओर से ही दर्ज हुई है। हिन्दी साहित्य में नारी पीड़ा की अनुगूँज हमेशा सुनाई देती रही है परन्तु स्वयं नारी द्वारा लेखनी उठाकर जब उस पीड़ा का खाका खींचा गया तो तस्वीर का दूसरा ही पक्ष उभर कर आया। स्त्री को वर्षों से अपने संस्कार, इतिहास, परिवेश से जो सोच मिली है, जो पीड़ा घनीभूत होकर उसके अन्तर्मन में सदियों से जमा हो रही है, उसकी यही सोच, मानसिकता, स्त्री लेखन में परिलक्षित होती है। स्त्री की अस्मिता, व्यक्तित्व तथा अधिकारों की ईमानदार तथा सार्थक लड़ाई स्त्री ने लड़ी है और यह लड़ाई तब तक जारी रहेगी जब तक स्त्री-पुरुष प्रतिपक्ष न होकर सहभागी नहीं बन जाते। “औरत की बेबाक कलम का चलना, सिर पर कफ़न बांधकर निकलने जैसी बात है, क्योंकि नंगी सच्चाइयों का अभ्यस्त हमारा समाज नहीं। घबराना इस बात से भी नहीं है कि हमारे लिखे को कभी स्त्री-विमर्श कहकर मखौल में उड़ा दिया जाता है और कभी ‘नया शगूफ़ा कहकर अस्वीकृत कर दिया जाता है। अब जो स्त्री है, वह घोषणा करती है- मैं माँ हूँ, बहन हूँ, पत्नी हूँ, बेटी हूँ, रखैल-वेश्या हूँ, किसी भी नाम

से पुकारा, मैं तो बस स्त्री हूँ।”<sup>9</sup>

**संदर्भ ग्रंथ-**

1. सीमोन द बोउवार की पुस्तक ‘द सेकेण्ड सेक्स’ का हिन्दी अनुवाद, (अनुवादक) प्रभा खेतान: स्त्री उपेक्षिता, पृ. 28
2. कल्पना वर्मा (सं.) स्त्री विमर्श : विविध पहलू में संकलित लेख ‘राष्ट्रीय संदर्भों में महिला लेखन का मूल्यांकन, प्रो. हौसिला प्रसाद सिंह, रेखा कस्तवार का उद्धरण, लोकभारती पुस्तक विक्रेता तथा वितरक, इलाहाबाद, 2009, पृ. 68
3. डॉ. जगदीश्वर चतुर्वेदी, स्त्रीवादी साहित्य विमर्श, अनामिका पब्लिशर्स, दिल्ली, 2011, पृ. 6
4. कुँवरपाल सिंह/नमिता सिंह (संपादक) वर्तमान साहित्य, सूर्यबाला के लेख ‘चुनौतियों के घेरे में आज का स्त्री विमर्श, मार्च 2008, पृ. 55
5. हाशिये का वृत्तांत, स्त्री-दलित और आदिवासी समाज का वैकल्पिक इतिहास, (संपादक) दीपक कुमार, देवेंद्र चौबे, बलवंत कौर के लेख- ‘स्त्री आत्मकथा के इतिहास’ में से उद्धृत, आधार प्रकाशन, पंचकूला, 2011, पृ. 167
6. (संपादक) राजेन्द्र यादव, देहरि भई विदेश, लेखिकाओं के आत्मकथांश, देहरि पर दीपक (लेख-राजेन्द्र यादव से उद्धृत) किताबघर प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2006, पृ. 14
7. तसलीमा नसरीन, औरत के हक में, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2002, पृ. 35-43
8. जगदीश्वर चतुर्वेदी, स्त्रीवादी साहित्य विमर्श, पृ. 2-4
9. वर्तमान साहित्य, मैत्रेयी पुष्पा के लेख ‘स्त्री का पहचान पत्र’ मार्च 2008, पृ. 54

Post Doctoral Research Fellow, Department of Hindi, Panjab University, Chandigarh

## छायावादोत्तर हिन्दी कविता और जीवनमूल्य (दिनकर के रश्मिरथी के सन्दर्भ में)

निधि नागर  
डॉ. कमलेश कुमारी रवि

छायावादोत्तर हिन्दी कविता और जीवन मूल्य विषय पर विचार करते ही दो बात उभर कर आती है एक तो जीवन मूल्य और दूसरा छायावादोत्तर हिन्दी कविता। जहाँ तक जीवन मूल्यों का प्रश्न है, मैं 'मूल्य' शब्द के अर्थ, परिभाषा, उसके मूल, स्वरूप आदि के सम्बन्ध में आचार्यों, पण्डितों, विद्वानों तथा विशेषज्ञों के मतों एवं मान्यताओं के विश्लेषण में न जाकर केवल इतना कहना चाहती हूँ कि जीवन मूल्य वे होते हैं जिनका मूल्य जीवन से भी बड़ा होता है मानव स्वयं मिटकर भी जिन्हें जीवित रखना चाहता है जिन्हें बचाना चाहता है, वे विचार, वे सिद्धान्त जो किसी मनुष्य विशेष से नहीं वरन् मानवता से जुड़े हों, जिनके स्वीकार-अस्वीकार अस्मीकार पर मानवता से जुड़े हों, जिनके स्वीकार-अस्वीकार पर मानवता का भविष्य निर्भर हो, वही होते हैं जीवन मूल्य। अब प्रश्न उठता है छायावादोत्तर हिन्दी कविता का। इस सम्बन्ध में मोटे तौर पर प्रगतिवाद, प्रयोगवाद, नई कविता, अकविता, नवगीत, समकालीन कविता और बीच में हालावाद, नकेनवाद, प्रपद्यवाद, बीटनिक कविता, अस्वीकृत कविता, युयुत्सावादी कविता आदि-आदि जाने कितने नाम हैं जो इस कविता यात्रा की सीमा में आते हैं। इस लम्बी यात्रा में कवियों की तथा उनकी रचनाओं की एक लम्बी परम्परा है, लम्बी सूची है जिसमें झाँककर ही इस काल की कविता के जीवन मूल्यों को जाना जा सकता है यह तो निश्चित ही है कि साहित्य मानव समाज के विचारों को शरण देता है तथा अपने चिन्तन से समाज को दिशा भी देता है। अतः किसी भी काल को उसके चिन्तन को उसके मूल्यों को जानने का सर्वाधिक सशक्त माध्यम कविता ही होती है।'

जहाँ तक मेरी बात है इतने लम्बे काल तथा उसकी काव्य यात्रा को सामने रखकर कुछ कहने की न तो मुझमें क्षमता है न ही योग्यता और फिर सम्पूर्ण छायावादोत्तर हिन्दी कविता में समाहित जीवन मूल्यों को 5-6 पृष्ठों में रेखांकित कर देना भी क्या आसान है, पर मुझे लगता है कि कभी-कभी एक ही कवि और उसकी भी एक ही कृति सम्पूर्ण काल में आये हुए मूल्यों के परिवर्तन को सामने रखने में हांडी के एक चावल के समान ही महत्त्वपूर्ण नमूना बन जाती है और मुझे ऐसी ही एक कृति लगती है। रामधारी सिंह दिनकर की 'रश्मिरथी' जब भी मैंने इसे पढ़ा मुझे लगा कि बदलते युग की सारी मान्यताओं, सारे प्रश्नों, सारी शंकाओं, सारी आस्थाओं, सारे सन्देहों तथा सारे विश्वासों का प्रतीक है- 'रश्मिरथी'।

‘रश्मिरथी’ की रचना दिनकर ने 1950 में प्रारम्भ की थी। इसमें दिनकर का उद्देश्य काशी के चरित्र का उद्धार मात्र न होकर कुछ और है और उस काल के परिवर्तित होते हुए, हो गये तथा होने वाले जीवन मूल्यों का संकेत तथा उन पर विचार। स्वयं दिनकर के शब्दों में ‘उसके (कर्ण के) वर्णन के बहाने में अपने समय और समाज के विषय में जो कुछ कहना चाहता था, उसके अवसर भी मुझे यथास्थान मिल गये हैं।’

दिनकर जी ने स्वयं इस रचना की भूमिका में लिखा था कि “यह युग दलितों तथा उपेक्षितों के उद्धार का युग है अतएव यह बहुत स्वाभाविक है कि राष्ट्र भारतीय के जागरूक कवियों का ध्यान कर्ण के चरित्र की ओर जाये जो हजारों वर्षों से हमारे सामने उपेक्षित एवं कर्लकित मानवता का मूक प्रतीक बनकर खड़ा है।” हमारे समाज में मानवीय गुणों की पहचान बनने वाली हैं कुल तथा जाति का अहंकार विदा हो रहा है। आगे मनुष्य केवल उसी पद का अधिकारी होगा जो उसके सामर्थ्य से सूचित होता है, उस पद का नहीं, जो उसके माता-पिता या वंश की देन है। इसी प्रकार व्यक्ति अपने गुणों के कारण जिस पद का अधिकारी है, वह उसे मिल कर रहेगा, यहाँ तक कि उसके माता-पिता के दोष भी इसमें कोई बाधा नहीं डाल सकेंगे। यद्यपि कर्ण को स्वर उससे पहले संस्कृत साहित्य में भी मिल चुका था-

सूतों वा सूतपुत्रों वा यो वा को वा भवाभ्यहम्।

देवा यत्रं कुले जन्म मदायत्ते तु पौरुषम्॥<sup>2</sup>

परन्तु कर्ण की यह घोषणा किसी भी कर्ण को समाज में आदर न दिला पायी। बीच-बीच में बुद्ध, महावीर स्वामी, कबीर, नानक आदि अनेक विचारकों तथा सुधारकों ने दलितों पीड़ितों तथा उपेक्षितों को वाणी देकर समाज में स्थान दिलाने का प्रयत्न किया पर फिर भी आधुनिक काल से पूर्व समाज के चिन्तन में उसके सोच में यह निश्चित स्पष्ट परिवर्तित जीवन मूल्य नहीं आ पाया था जिसका अस्तित्व आधुनिक युग में दिखाई देता हैं युद्ध शिक्षा कुछ अन्य परिस्थितियाँ- अरविन्द, विवेकानन्द, गुरुदेव रवीन्द्र तथा महात्मा गाँधी आदि के चिन्तन से समाज में यह मूल्य निश्चित दिशा ले रहा था कि व्यक्ति की पूजा उसके गुणों के कारण ही होनी चाहिये जन्म के कारण नहीं अर्थात् कुल, गोत्र, जाति के स्थान पर गुण की श्रेष्ठता का गान ही जीवन मूल्य है। जिसका संकेत ‘रश्मिरथी’ में ओजपूर्ण स्वर में है-“जाति-जाति रटते जिनकी पूंजी केवल पाषंड/मैं क्या जाने जाति? जाति हैं मेरे ये भुजदंड/ऊपर सिर पर कनक छत्र, भीतर काले ही काले/शरमाते हैं नहीं जगत में जाति पूछने वाले।”

महाभारत का कर्ण कृपाचार्य द्वारा कुल गोत्र पूछे जाने पर हतप्रभ होकर मौन धारण कर लेता है परन्तु रश्मिरथी का कर्ण न तो हतप्रभ होता है और न ही मौन धारण करता है वह तो साहस के साथ स्वयं को सूत्रपुत्र ही घोषित नहीं करता वरनपार्थ के जन्म पर भी उँगली उठाने का साहस दिखाता है। तिरस्कृत का यह साहस केवल कर्ण का ही स्वर नहीं था वरन् इसमें साकार हो रहा था सम्पूर्ण छायावादोत्तर काल का वह चिन्तन जो जीवन मूल्य बन रहा था-

सूतपुत्र हूँ मैं, लेकिन वे पिता पार्थ के कौन?

साहस हो तो कहो, ग्लानि से, रह जाओ मत मौन॥

पूछो मेरी जाति शक्ति हो तो मेरे भुजबल से।

रवि समान दीपित ललाट से और कवच कुण्डल से॥<sup>3</sup>

प्रतिवाद तक आते-आते जिस विचारधारा का स्वर बिल्कुल स्पष्ट रूप ले चुका था। उसी को वाणी दी थी कर्ण ने-

मस्तक ऊँचा किये जाति का नाम लिये चलते हो,  
मगर असल में शोषण के बल से सुख में पलते हो।  
अधम जातियों से थर-थर काँपते तुम्हारे प्राण,  
छल से मांग लिया करते हो अंगूठे का दान।<sup>4</sup>

उच्च वर्ण की जिस चालाकी ने एकलव्य का अंगूठा दक्षिणा में मांग लिया था उस चालाकी का यह विरोध भी अकेले कर्ण का स्वर नहीं वरन् समष्टि का स्वर है। तथाकथित छोटी जातियों में एक नयी चेतना उभर रही थी जिसके कारण वे निरन्तर वेदना सहन कर रही थी-

किन्तु मनुज क्या करे जन्म लेना तो उसके हाथ नहीं,  
चुनना जाति और कुल अपने वश की तो बात नहीं।  
हाय जाति छोटी है तो फिर सभी हमारे गुण छोटे,  
जाति बड़ी है तो बड़ बने वे, रहे लाख चाहे खोटे।<sup>5</sup>

वस्तुतः रश्मिरथी आधुनिक युग की रचना है जिसमें वैवाहिक गुणों की अवहेलना सम्भव ही नहीं है। रश्मिरथी का कर्ण स्वतन्त्र व्यक्तित्व रखने वाला योद्धा, दानवीर, धर्मवीर पुरुष है, वह मानव है सच्चा मानव, मानवीय मूल्यों का जीता जागता प्रतीक। इसी कारण दिनकर ने यह प्रश्न समाज के सामने रखा था-

करना क्या अपमान ठीक है इस अनमोल रतन का,  
मानवता की इस विभूति का, धरती के इस धन का?<sup>6</sup>

कर्ण की व्यथा केवल जाति की ही व्यथा नहीं थी, उससे भी बड़ी व्यथा तो उसे तब मिली जब अपने जनम की व्यथा उसे पता चली। इसी कारण कर्ण प्रतीक बना उन सबका-

मैं उनका आदर्श न कहीं जो व्यथा न खोल सकेंगे,  
पूछेगा जग किन्तु पिता का नाम न बोल सकेंगे।<sup>7</sup>

जननी तथा जनक दोनों की ही न जानने वाले कर्ण ने इस प्रश्न पर कब-कब, कहाँ-कहाँ, क्या-क्या नहीं सहा?

इसी के साथ दिनकर ने नारी से जुड़े एक और प्रश्न को भी इंगित किया है, वह है कुआरी माँ का प्रश्न। देवता द्वारा प्राप्त वरदान को भी समाज के भय से कुन्ती को त्यागना पड़ा। बालक के जनम के सत्य को उद्घाटित करने का साहस समाज के नैतिक मूल्यों तथा मान्यताओं के सामने कुन्ती में नहीं था-

बेटा धरती पर बड़ी दीन है नारी,  
अबला होती, सचमुच पोषिता कुमारी।  
है कठिन बन्द करना समाज के मुख को,  
सिर उठा न पा सकती पतिता निज मुख को।<sup>8</sup>

वैदिक काल से ही सत्यकाम जैसे शिशुओं का जनम जब सत्य है, यथार्थ है तो समाज में उसे अपनाने का साहस क्यों नहीं? 'रश्मिरथी' में बस आधुनिक काल के लिए एक संकेत है। कुन्ती कर्ण से तो कह देती है, पर समाज के सामने केवल मानसिक साहस ही बटोर कर रह जाती है-

‘डर चुकी बहुत, अब और न अधिक डरूंगी।’

रश्मि रथी छायावादोत्तर काल की रचना है। यह काल प्रश्नों, प्रश्नचिह्नों का काल था, प्राचीन परम्पराओं तथा नैतिक, सामाजिक, धार्मिक मूल्यों को बुद्धि तथा तर्क की कसौटी पर कसने का काल था। कुन्ती के आहत मातृत्व की पीड़ा का अहसास इसी कारण दिनकर ने ‘रश्मि रथी’ के माध्यम से कराया है। इतना ही नहीं आधुनिक काल में समाज के मस्तिष्क में उठने वाले अनेक प्रश्न इस रचना में हैं, उनके उत्तर भी हैं, कहीं कवि नियन्त्र भी है, वहाँ केवल सोचने का संकेत है। युद्ध क्षेत्र में कर्ण के रथ का पहिया फंस जाने पर कर्ण अर्जुन का संवाद तथा अर्जुन कृष्ण का संवाद धर्मा-धर्म की विवेचना का ऐसा ही प्रसंग है। कुन्ती द्वारा कर्ण को अपनाये जाने की प्रार्थना का कर्ण द्वारा अस्वीकार अपने में एक मूल्य है। दुर्योधन भले ही अधर्मपथी था अथवा धर्मपथी, पर कर्ण का धर्म तो मित्रता थी। वह तो मैत्री धर्म की रक्षा के लिए ही जीवित था। परशुराम से छल का सहारा लेकर कर्ण ने विद्या प्राप्त की थी, परन्तु अन्त में उनके ही शाप से वह विद्या विफल हो गयी। छल-कपट की वर्तमान अन्धी दौड़ के विरोध का क्या यह अप्रत्यक्ष संकेत नहीं? दान को ही जीवन का मूल मानने वाला कर्ण जानबूझकर भी क्या इन्द्र को अपने कवच कुंडल देकर स्वयं अपनी मृत्यु का वरण नहीं कर लेता। कर्ण याचक को निराश कैसे लौटा देता, वह तो उन जीवन-मूल्यों के लिए जी रहा था। जहाँ अपयश के जीवन से सुयश की मृत्यु अधिक अभीप्सित हैं

यहाँ केवल कुछ प्रसंगों की संकेत रूप में चर्चा की गई है। ऐसे अगणित संकेत इस रचना में हैं जिनके आधार पर ‘रश्मि रथी’ को आधुनिक चेतना के जीवन मूल्यों का वाहक माना जा सकता है।

### **सन्दर्भ ग्रन्थ-**

1. डॉ. ऋतु शर्मा, साठोत्तरी हिन्दी खण्ड काव्यों में जीवन मूल्य, शिशिर प्रकाशन, प्रथम संस्करण-2008, पृ. 88
2. वही, पृ. 89
3. जॉर्ज सांत्याना, मूल्य मीमांसा, अशोक प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 27
4. वही, पृ. 28
5. कुमार विमल, मूल्य परिवर्तन : मानविकी के सन्दर्भ में, भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी, पृ. 64
6. वही, पृ. 66
7. हुकुम चंद, आधुनिक काव्य में नवीन जीवन मूल्य, भारतीय संस्कृत भवन, जालन्धर पृ. 5
8. वही, पृ. 7

## कुँवर नारायण के काव्य में राजनीतिक चेतना

डॉ. पवन कुमार

काव्य और राजनीति का घनिष्ठ और अटूट सम्बन्ध होता है। साहित्यकार अपने युग-परिवेश से प्रभावित होता है और राजनीति उस परिवेश को प्रभावित करती है। वास्तव में समय के साथ राजनीति भी बदलती रहती है। राजनीति का प्रश्न जीवन की तमाम समस्याओं में घुल-मिल जाता है। कहा जा सकता है कि जब साहित्य जीवन को ग्रहण करता है तब राजनीति सहज ही उसमें समाविष्ट हो जाती है तथा उसमें युगीन चेतना के दर्शन होते हैं। स्वतन्त्रता के पश्चात् भारतीय प्रजातन्त्र की दशा कैसी रही है, इसका कुँवर नारायण ने खुले रूप से चित्रण किया है। आज की राजनीति का वास्तविक रूप क्या है? संविधान के अधिकारों का आज किस प्रकार क्षय हो रहा है? इन सभी का विवेचन कुँवर नारायण के काव्य में मिलता है। कवि ने आधुनिक राजनीति को पूरा प्रसंग स्पष्ट करते हुए 'महाभारत' नामक कविता में लिखा है-

धृतराष्ट्र अन्धे  
विदुर-नीति हुई फेल।  
धर्मराज धूर्तराज दोनों जुआड़ी:  
पाँसे खनखनाते हुए  
राजनीति में शकुनी का प्रवेश।<sup>1</sup>

अर्थात् हमारी राजनीति में भ्रष्टाचार का बोल-बाला है और शकुनी जैसे स्वार्थी इसमें सम्मान पाते हैं। कवि चुनावी परिदृश्य की विसंगतियों को आरोपित करते हुए लिखते हैं -

न धर्मक्षेत्रे न कुरुक्षेत्रे।  
सीधे सीधे चुनाव क्षेत्रे-  
जीत की प्रबल इच्छा से  
इकट्ठा हुए महारथियों के  
ढपोरशंखी नाद से  
युद्ध का श्रीगणेश।  
दलों के दलदल में जूझ रहे  
आठ धर्म अट्टारह भाषाएँ अट्टाईस प्रदेश ...।<sup>2</sup>

अर्थात् चुनाव के समय हर राजनीतिक दल अपने वोट बैंक को पक्का करने के लिए धर्म, भाषा आदि संकुचित विचारों का सहारा लेते हैं। 'अयोध्या 1992' नामक कविता में भी

कवि ने तत्कालीन राजनीति में प्रवेश हो चुकी साम्प्रदायिकता को चित्रित किया है। प्रस्तुत कविता में दिखाया गया है कि किस प्रकार हमारे राजनेता धर्म की आड़ लेकर चुनाव प्रचार करते हैं। अयोध्या प्रकरण को आधार बनाकर कवि ने इस तरह से हमारे शासकों की विकृत मानसिकता को उजागर किया है -

इससे बड़ा क्या हो सकता है  
हमारा दुर्भाग्य  
एक विवादित स्थल में सिमटकर  
रह गया तुम्हारा साम्राज्य  
अयोध्या इस समय तुम्हारी अयोध्या नहीं  
यौद्धाओं की लंका है,  
'मानस' तुम्हारा 'चरित' नहीं  
चुनाव का डंका है।<sup>१</sup>

प्रस्तुत पंक्तियों में कवि ने आधुनिक राजनेताओं की निवृत्त मानसिकता का अयोध्या प्रकरण के माध्यम से चित्रण किया है। जिसमें कवि ने राम को आधार बनाकर साम्प्रदायिकता से पूर्ण राजनीति पर बड़ा तीखा व्यंग्य किया है। इस तरह हमें शासितों द्वारा केवल ठगा ही जाता है और हम अपनी कट्टरता के कारण उनकी बातों में फंस जाते हैं और जब उन्हें कोई मुद्दा नहीं मिलता तो हमें मात्र उनसे आश्वासन ही मिलते हैं। सरकार बनते ही राजनेता अपने द्वारा किए सभी वायदे भूल जाते हैं और मनचाहा शासन करते हैं। उपरोक्त तथ्यों को वाणी देते हुए कवि 'नाकाबंदी' नामक कविता में लिखते हैं -

लोग निडरता से आ जा रहे  
बाजारों में खासी चहल पहल है  
सभी तरफ बेफिक्री  
सभी तरफ खुशहाली  
न कोई फ़सादी  
न कोई बवाली  
कहीं आतंक नहीं  
कहीं लूटपाट नहीं  
कहीं धोखाधड़ी नहीं  
कहीं लागडॉट नहीं  
लगता है आज किसी ने अखबार नहीं पढ़ा  
सिर्फ शासकों का भाषण सुना है।<sup>१</sup>

उपरोक्त पंक्तियों में कवि ने हमारी राजनीतिक व्यवस्था पर करारी चोट की है। कवि प्रतिपादित करते हैं कि हमारी व्यवस्था मात्र नेताओं के आश्वासन के नाम पर ही कल्याणकारी है जबकि वास्तविकता कुछ और ही है। कुँवर नारायण ने राजनीति के प्रत्येक पक्ष का चित्रण अपने काव्य में किया है। कवि ने अपने काव्य के माध्यम से राजनेताओं के साथ-साथ राजनीति का भी वास्तविक चित्रण प्रस्तुत किया है कि किस प्रकार राजनेता अपने स्वार्थों की पूर्ति में लगे रहते हैं। आम जनता की तरफ कोई ध्यान नहीं देता। इसलिए कवि राजनेताओं पर करारा व्यंग्य करते हुए लिखते हैं -



हे राम, कहाँ यह समय  
 कहाँ तुम्हारा त्रेतायुग  
 कहाँ तुम मर्यादा पुरुषोत्तम  
 और कहाँ यह नेता-युग  
 सविनय निवेदन है प्रभु कि लौट जाओ  
 किसी पुराण-किसी धर्म ग्रन्थ में  
 सकुशल सपत्नीक ....  
 अबके जंगल वो जंगल नहीं  
 जिनमें घूमा करते थे वाल्मीक।<sup>5</sup>

अर्थात् वर्तमान में यह सच्चाई नहीं रही है जो कभी त्रेतायुग में थी। अतः कवि ने व्यंग्यात्मक भाषा में वर्तमान राजनीति की भयावह स्थिति को उजागर किया है।

कुँवर नारायण ने समकालीन व्यवस्था की विडम्बनाओं को अत्यन्त सटीकता से उभारा है। कवि ने तत्कालीन व्यवस्था में हो रहे आम जनो के शोषण को अत्यन्त तीक्ष्णता से उभारा है। कवि की दृष्टि में चिन्ता का केन्द्र दाँत का एक दर्द नहीं, बल्कि पूरी पंक्ति है अर्थात् हमारी पूरी व्यवस्था ही सड़ी हुई है। जैसे -

फिलहाल, चिन्ता के केन्द्र में  
 केवल एक दाँत का दर्द नहीं  
 वह पूरी पंक्ति है जड़ से जो सड़ चुकी।<sup>6</sup>

कुँवर नारायण नारेबाजी नहीं करते हैं, बल्कि अत्यन्त तीखेपन से सामाजिक व्यवस्था के यथार्थ को आरोपित करते हैं। एक लापता आदमी की शक्ति कुँवर नारायण इस मुल्क के आदमी की वर्तमान नियति के संदर्भ में यों देखते हैं -

रंग गेहुओं, ढंग खेतिहर

.....

ऐसी बात करता है कि उसे  
 कोई गम नहीं।  
 तुतलाता है।  
 उम्र पूछो तो हजारों साल से  
 कुछ ज्यादा बतलाता है।  
 देखने में पागल-सा लगता है नहीं  
 कई बार ऊँचाइयों से गिरकर टूट चुका है  
 इसलिए देखने पर जुड़ा हुआ लगेगा।  
 हिन्दुस्तान के नक्शे की तरह।<sup>7</sup>

हमारा वर्तमान इतना भयावह हो चुका है कि आम जन को एक दिन की खुशहाली भी बड़ी मुश्किल से नसीब हो रही है। भारतीय समाज के सामान्य जन की जो असंख्य तकलीफें हैं उनको कवि ने बड़ी शिद्दत से उकेरा है -

एक उदास और टूटा हुआ आदमी  
 खोल रहा  
 खोटे सिक्कों की दुकान

एक निराश आदमी  
अपने को पढ़ कर सुना रहा  
भारत का संविधान।<sup>8</sup>

‘पालकी’ नामक कविता में भी कवि ने हमारे ग्रामीण समाज के विकास का सही ग्राफ प्रस्तुत किया है। एक तरफ हम विश्व-पावर बनने के सपने संजोये हुए हैं तो दूसरी तरफ हमारी आधी से ज्यादा जनसंख्या गरीबी, भूखमरी के कगार पर खड़ी है। गाँवों में आज भी लोग अव्यवस्था के शिकार हैं। आज भी उन पर पुश्तैनी कर्ज है। आज भी सरकार की कल्याणकारी नीतियाँ उन तक नहीं पहुँची हैं। हमारी ग्रामीण जनसंख्या आज़ादी के इतने वर्ष बाद भी नंगी, फटेहाल स्थिति में अपना जीवन व्यतीत कर रही है। उपरोक्त तथ्यों को वाणी देते हुए कवि लिखते हैं -

काँधे धरी यह पालकी  
है किस कन्हैयालाल की?  
इस गाँव से उस गाँव तक  
नंगे बदन, फेंटा कसे,  
बारात किसकी ढो रहे?  
किसकी कहारी में फँसे?  
यह कर्ज पुश्तैनी अभी किश्तें हजारों साल की।<sup>9</sup>

कवि भारतीय शासन प्रणाली में व्याप्त भ्रष्टाचार को आरोपित करते हुए लिखते हैं-  
विज्ञापन देता है-

“जगह खाली है, एक ईश्वर चाहिए”  
प्रार्थना पत्र देते  
न जाने कब से  
बेकार घूम रहे दयानिधान  
उनसे साक्षात्कार के बाद तय करता  
सबसे पहले ऊपर की आय  
फिर महँगाई भत्ता  
और अन्त में उनका वेतनमान।<sup>10</sup>

इस प्रकार कुँवर नारायण ने शोषणपरक व्यवस्था का खुलेआम बयान किया है, जहाँ व्यवस्था के अनुरूप यथास्थिति का पुष्ट-पोषण आतंक के दम पर किया जाता है। कवि ने ‘पहला-सवाल’ नामक कविता में बड़े ही धारधार व्यंग्य द्वारा समकालीन भ्रष्ट शासन-प्रणाली पर चोट की है -

सुबह  
रात भर के जागे लोग थककर  
सड़कों फुटपार्थों पर सोये पड़े थे।  
कैसी विडम्बना है कि जब वे जागे  
उन पर गलत जगह, गलत वक्त सोने का इल्जाम लगाया गया  
और जनता की सुविधा के लिए  
सरकारी रास्तों को साफ कराया गया

अब सोने और जागने का पूरा संदर्भ बदल चुका था -  
दीवारें बदल चुकी थीं -  
इश्तहार बदल चुके थे<sup>11</sup>

कहा जा सकता है कि कवि ने अपने काव्य के माध्यम से हमारे शासन एवं इसके तन्त्र में फैले भ्रष्टाचार से सम्बन्धित विविध रूपों का बड़े ही यथार्थ ढंग से चित्रण किया है, जिसमें कवि को काफी हद तक सफलता भी मिली है।

वास्तव में कविवर कुँवर नारायण ने अपने काव्य में राजनीति के विविध रूपों का बड़े ही यथार्थ ढंग से चित्रण किया है। कवि ने शासकों के गुणों के अलावा उनके भ्रष्ट आचरणों को भी रेखांकित किया है। इसके साथ-साथ वर्तमान शासन प्रणाली में प्रचलित भ्रष्टाचार को भी चित्रित किया है। साथ ही वर्तमान व्यवस्था में आमजन की दयनीय स्थिति को भी चित्रित किया है। कवि ने आधुनिक प्रजातान्त्रिक पद्धति की शिथिलता का प्रश्न भी उठाया है -

याद आने लगते कुछ बढ़ते फासले  
जैसे जनता और सरकार के बीच<sup>12</sup>

कवि ने केवल राजनीति विकृतियों को ही वाणी नहीं दी है, बल्कि राजनेताओं अर्थात् शासकों के कर्तव्यों को भी वाणी दी है। 'आत्मजयी' में कवि ने नचिकेता के माध्यम से इसी ओर संकेत किया है। नचिकेता अपने पिता से इसी कर्तव्यबोध को याद दिलाते हुए कहता है कि -

तुम भी एक प्राणी हो  
सबकी तरह समय के बने  
जिसे सिंहासन एक भूमिका देता है,  
मुकुट एक शीर्षक,  
सेना एक कर्तव्य,  
स्वरक्षा एक धर्म,  
सभासद एक दायित्व ...।<sup>13</sup>

अर्थात् प्रत्येक शासक के कुछ कर्तव्य होते हैं और इनको निभाना ही उसका धर्म होता है। जबकि वर्तमान व्यवस्था में उपरोक्त दायित्वों का महत्त्व ही नहीं रहा है।

स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि कवि ने शासक-शासित सम्बन्ध, जन-अधिकार, क्रांति की भावना, असुरक्षा, दूरदर्शिता, युद्ध एवं भ्रष्टाचार आदि मुद्दों का बड़े सुन्दर ढंग से निरूपण कर अपनी राजनीतिक दूरदर्शिता को सुस्पष्ट किया है। इस तरह हम देखते हैं कि कवि ने राजनीतिक विद्रूपताओं का खुलकर चित्रण किया है। उन्होंने राजनीतिक व्यवस्था में गहरे से पैठ कर देखा है किन्तु उन्हें पहले जो आशाएँ थी, वे आज धूमिल हो चुकी हैं, लेकिन फिर भी कवि निराश नहीं होता है। उन्होंने समाज के दीन-हीन वर्ग में आस्था पैदा करने का हर सम्भव प्रयास किया है जिसके लिए भारतीय समाज सदा उनका ऋणी रहेगा। उनकी ये पंक्तियाँ इस संदर्भ में दृष्टव्य हैं -

अबकी अगर लौटा तो  
मनुष्यतर लौटूँगा  
घर से निकलते  
सड़कों पर चलते

बसों पर चढ़ते  
ट्रेनों पकड़ते  
जगह बेजगह कुचला पड़ा  
पिद्दी-सा जानवर नहीं

.....

सबके हिताहित को सोचता  
पूर्णतर लौटूँगा।<sup>14</sup>

भला कौन नहीं चाहेगा कि ऐसा भावुक, उदात्त, मननशील, कवि न सिर्फ हमारी कविता में, बल्कि हमारी ज़िन्दगी में भी बार-बार न लौटे। उपर्युक्त समग्र विवेचन में कवि द्वारा अपनाया गया वैचारिक दृष्टिकोण स्पष्ट हो चुका है। तो भी हम कह सकते हैं कि कवि के पास ऐसी विचारधारा है, सोच है जो व्यक्ति को बाकी सबसे, सभी राष्ट्रों से ऊपर स्थापित करती है।

इस तरह कवि एक ऐसी स्थिति की कामना करता है जहाँ भ्रष्टाचार, अमानवीयता, हिंसा, झूठ-फरेब, असमानता आदि का नामोनिशान तक न हो। चारों तरफ शांति एवं खुशहाली हो। प्रत्येक मनुष्य सत् और आनन्द से रहे और यही कवि की राजनीतिक चेतना का समाजीय पक्ष भी कहा जा सकता है।

### संदर्भ-

1. (सं.) यतीन्द्र मिश्र, कुँवर नारायण : संसार, भाग-1, पृ. 136
2. वही, पृ. 136
3. वही, पृ. 137
4. कुँवर नारायण, कोई दूसरा नहीं, पृ. 106
5. कुँवर नारायण : संसार, भाग-1, पृ. 137
6. कोई दूसरा नहीं, पृ. 99
7. कुँवर नारायण : संसार, भाग-1, पृ. 114
8. कोई दूसरा नहीं, पृ. 95
9. कुँवर नारायण : संसार, भाग-1, पृ. 122
10. कोई दूसरा नहीं, पृ. 95
11. वही, पृ. 67
12. वही, पृ. 27
13. कुँवर नारायण : संसार, भाग-1, पृ. 68
14. वही, पृ. 120-121

द्वारा प्रोफ़ेसर रामसजन पाण्डेय, मकान नं. 1727, सैक्टर-2, रोहतक (हरियाणा)

## तमसः देश विभाजन की एक हृदयद्रावक त्रासदी

प्रा. भरतभाई बावलिया

“मजहब नहीं सिखाता आपस में बैर रखना।”

स्वतंत्रता प्राप्ति के परिणामस्वरूप भारत पाकिस्तान जो बटवारा हुआ, उनके कई दुष्परिणाम प्राप्त हुए हैं। तब से लेकर आज तक देश के लोग मजहब, धर्म या साम्प्रदायिकता के नाम पर एकदूसरे लोगों के खून के प्यासे बन बैठे हैं। इस विभाजन की विभीषिका से प्रेरित उपन्यासों में यशपाल कृत ‘झूठा सच’ भगवानदास कृत ‘काला पहाड़’ कमलेश्वर कृत ‘कितने पाकिस्तान’, हैदर कृत ‘आग का दरिया’ आदि बहुचर्चित उपन्यास हैं।

देशविभाजन के साम्प्रदायिक तनावों में कई बेबस लोग मारे गये, कितने बच्चे अपने मातापिता की छत्रछाया गवाकर अनाथ बनने के लिए मोहताज बन गये। इतना ही नहीं अपितु कितनी ही स्त्रियों को अमानवीय कृत्यों का शिकार बनना पड़ा था। भीष्म साहनी ने तमस उपन्यास में साम्प्रदायिक विभीषिका का यथार्थ चित्रण किया है। कहने में कोई दोराय न होगी कि देश में धर्म, मजहब या सम्प्रदाय के नाम पर होने वाले दंगे, हुल्लड़, तनावों के खिलाफ उठाई जाने वाली आवाज़ प्रस्तुत उपन्यास है। इसी संदर्भ में उपन्यास के अंतिम पृष्ठ में प्रकाशक का यह कथन दृष्टव्य हैसाम्प्रदायिक समस्या दरअसल शताब्दियों पुरानी है और भारतीय समाज इसके दानवी पंजों से आज भी मुक्त नहीं है। सुविख्यात उपन्यासकार भीष्म साहनी ने इस उपन्यास में इसी समस्या को उठाया है। एक ऐतिहासिक दौर तथा उसमें घट रही घटनाओं को संयोजित कर उन्होंने उस विकृत मानसिकता को उघाड़ा है। जिसके भयावह परिणाम सदैव जनसाधारण को ही भोगने पड़ते हैं। हिंदी कथा साहित्य में बहुचर्चित यह उपन्यास वस्तुतः लोगों को लड़ाने वाली धार्मिक कट्टरता, अज्ञान, असहिष्णुता और इसकी आड़ में अपने वर्गीय स्वार्थ सिद्ध करती राजनैतिक ताकतों के खिलाफ उठाई गई एक अविस्मरणीय आवाज़ है।

हमारे देश में जितने धर्म हैं, उतने शायद अन्यत्र उपलब्ध नहीं है। हिंदू, मुस्लिम, जैन, सिक्ख इत्यादि धर्म के लोगों के बीच साम्प्रदायिक तनाव समय-समय पर भड़क उठते हैं। इसका प्रमुख कारण अंग्रेजों की कूटनीति ‘फूट करो और राज्य करो’ ही जिम्मेदार है।

तमस में साम्प्रदायिक तनाव से सर्जित वातावरण को पढ़कर प्रत्येक पाठक के रोंगटे खड़े हो जाते हैं। साम्प्रदायिकता की नारकीय आग में देश के लोग किस कदर झुलस जाते हैं इसका हृदयद्रावक एवं यथार्थ चित्रण प्रस्तुत उपन्यास में पाया जाता है। हिंदू धर्म के लोग ‘हर हर महादेव’ और मुसलमान ‘अल्लाह हूँ अकबर’ के नारे लगाते हुए दहशत का माहौल पैदा

होता है।

नथू चमार की विवशता और गरीबी का फायदा उठाकर मुराद अली उससे पाँच रुपये देकर एक सुअर मरवाता है और उसको मस्जिद के सामने रखवाता है। यथा- “हमने कभी सुअर मारा नहीं मालिक और सुनते है सुअर मारना बड़ा कठिन काम है। हमारे बस का नहीं होता हुजूर। खाल-बाल उतारने का काम तो कर दे। मारने का काम तो पिगरीवाले ही करते है।”<sup>1</sup>

मस्जिद के सामने सुअर का शव देखकर मुसलमान यही समझते है कि यह कार्य हिंदू ने किया है और वह एक गाय की हत्या कर देते है। यही से दोनों धर्म के लोगों के बीच ईर्ष्या, द्वेष, कट्टरता की बीज पल्लवित होते है। नूरपूर नामक तहसील से प्रारंभ होने वाला यह तनाव पूरे देश में गली-गली में दहशत का माहौल पैदा होता है।

दोनों ओर से घात-प्रतिघात, हिंसा-प्रतिहिंसा आदि की क्रियाओंप्रतिक्रियाओं द्वारा यहां दंगा एक वीभत्स एवं अमानवीय जनसंहार की नृशंसीयलीला के रूप में बदल जाता है। उपन्यास के सत्रहवें अध्याय में जो अमानवीयता की चरमसीमा है उसे उपन्यासकार ने बखूबी बताने का प्रयास किया है। ‘ढोंक इलाहीबख्श’ मुसलमानों का गाँव था। वहाँ एक दो सिक्ख परिवार रहते थे। मुसलमान लोगों के द्वारा उसका घर लूट कर जला दिया जाता है। इतना ही नहीं बल्कि सरदार के एक बेटे को इस्लाम कबूल करने के लिए विवश बनना पड़ता है।

“बोल सरदार, इस्लाम कबूल करेगा या नहीं? अगर मंजूर है अपने आप बाहर आ जा, हम तुम्हें कुछ नहीं करेंगे। ठेले मार-मारकर मार डालेंगे।”<sup>2</sup>

दिन-ब-दिन साम्प्रदायिकता की नारकीय आग में एक के बाद एक व्यक्ति शिकार बनता है। मीरदाद, सोहनलाल, जरनैल आदि जैसे लोग दंगों को रोकने की रोकथाम करते है। देवदत्त नामक सुधाकर लोगों को कहता है-“साहिबान, गाँधीजी ने कहा है कि हिंदू-मुसलमान भाई-भाई है। इन्हें आपस में नहीं लड़ना चाहिए। मैं आपसे बच्चे, बूढ़े, जवान, मर्द, औरतों सभी से अपील करता हूँ कि आपस में लड़ना बंद करे। इससे मुल्क को नुकसान पहुँचता है।”<sup>3</sup>

इस प्रकार तमस उपन्यास में साम्प्रदायिक तनाव का बड़ा ही दर्दनाक चित्रण हुआ है। यद्यपि साम्प्रदायिक तनावों को, दंगों को दोहराना मात्र साहनी जी का उद्देश्य नहीं है, यथापि तनावों के परिणाम जो छींटे हमारे समाज पर पड़े उससे भलिभाँति अवगत करवाना है। इसलिए तमस उपन्यास का विषय अप्रासंगिक बिल्कुल नहीं है। तमस में वर्णित साम्प्रदायिक तनाव ही प्रासंगिकता के संदर्भ में डॉ. प्रेमकुमार ने लिखा है-“तमस में व्यक्त साम्प्रदायिकता एकदम अधूरी नहीं है। किंतु इतने भर से आम या फालतू अस्पर्श नहीं कही जा सकती। साम्प्रदायिकता का विष जब तक व्याप्त है, तब तक ऐसे प्रयत्नों को व्यर्थ, अप्रासंगिक या अनुपयोगी नहीं कहा जा सकता। तमस में उपन्यासकार साम्प्रदायिकता के विष को मृत्युदायी रूप से पाठकों को परिचित कराकर उसे आगाह करने की दिशा में प्रयत्नशील रहा है। अपनी किसी बीमारी और उसकी भयंकरता को जान लेना शरीर की शक्ति व स्फूर्ति के लिए किसी नये टॉनिक या व्यायाम से कम महत्वपूर्ण और आवश्यक नहीं है। तमस नया टॉनिक या व्यायाम नहीं है, पर एक बीमारी है, उसकी भयंकरता से अच्छी तरह परिचित कराते हुए सावधान कराने का प्रयत्न अवश्य है।”

प्रस्तुत उपन्यास में भीष्म साहनी ने राजनैतिक ताकतों को ही साम्प्रदायिक तनावों के लिए कारणभूत मानी है। उनका मानना था कि राजनैतिक शक्तियाँ अपने व्यक्तिगत स्वार्थ

के लिए प्रजा में तनाव के बीच बोती है। रिचर्ड का यह कथन राजनेताओं की इन्हीं वृत्ति का परिचायक है“डालिंग हुकूमत करने वाले यह नहीं देखते कि प्रजा में कौन-सी समानता पायी जाती है, उनकी दिलचस्पी तो यह देखने में होती है कि वे भिन्न-भिन्न बातों में एक-दूसरे से अलग है।”<sup>4</sup>

यकीनन ‘तमस’ उपन्यास देश विभाजन के त्रासद करुणगाथा है। प्रस्तुत उपन्यास न सिर्फ देश विभाजन की रूपरेखा को प्रस्तुत करता है, वरन् मानव की मानवता पर, इन्सान की इन्सानियत पर, धर्म की धार्मिकता पर भी प्रश्नचिह्न लगा देता है?

### संदर्भ-

1. भीष्म साहनी, तमस, पृ. 4
2. वही, पृ. 20
3. वही, पृ. 45
4. वही, पृ. 44

आर. आर. लालन कॉलेज, भुज, गुजरात

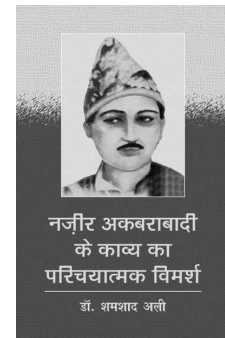
### कृष्णा सोबती : व्यक्तित्व एवं कृतित्व

कृष्णा सोबती समकालीन उपन्यासकारों में एक अत्यन्त प्रभावशाली व्यक्तित्व के साहित्य में उतरती है। उन्होंने अपने विशिष्ट रचनाओं के माध्यम से साहस दिखाया है। उनके सभी रचना उपन्यास हो या कहानी, संस्मरण वे यथार्थ बोध और स्पष्टवादिता के उदाहरण है। जिनके केन्द्र में नारी है। सोबती स्वयं एक नारी होने के नाते उन्होंने स्त्री की पीड़ा को और समस्याओं को गहराई से उजागर किया है। उनके उपन्यासों में स्त्री की पीड़ा वह स्वयं सोबती जी की पीड़ा बन गयी है। उनक रचना में नारी के प्रति उत्पन्न संवेदना सोबती की निजी अनुभव मालूम पड़ता है। उन्होंने रचना द्वारा स्त्री की सम्पूर्ण दुर्बलता को दूर करके इसे समाज में शक्ति प्रदान करने की कोशिश की है। **मूल्य -350**



### नज़ीर अकबराबादी के काव्य का परिचयात्मक विमर्श

नज़ीर मुख्य रूप से जन अथवा जनता के कवि हैं। विश्व साहित्य में नज़ीर एक ऐसे कवि हैं जिन्हें जन अथवा जनता से जुड़ने अथवा जनता का कवि होने का दंड भोगना पड़ा। जनता का कवि होना साहित्य में उनके लिए अभिशाप सिद्ध हुआ। युगीन आलोचकों ने उर्दू साहित्य में कोई स्थान नहीं दिया। उन्हें शायर स्वीकार न करते हुए तुकबंद कहकर उनकी रचनाओं को नकार दिया गया।...आवामी शायर को आलोचक किसी रूप में स्वीकार करने को तैयार न थे। **मूल्य -150**



**वाड्मय बुक्स अलीगढ़**  
**9044918670/9719304668**

## 20वीं सदी के अंतिम दशक के महिला उपन्यासकारों के उपन्यासों के विविध आयाम

प्रा. डॉ. ज्योति मुंगल

बीसवीं सदी के अंतिम दशक के महिला उपन्यासकारों द्वारा लिखित उपन्यासों में स्त्री जीवन के अनेक जटिल प्रश्नों के साथसाथ और समाज का कोई पक्ष अछूता नहीं रहा। प्रायः उन्नीसवीं सदी के अंतिम दशक में बीज रूप में अपनी नींव डालने वाली इस विधा ने सौ वर्ष की अवधि में विकास की चरम सीमा को छू लिया। महिला उपन्यासकारों का योगदान विशेष महत्त्वपूर्ण है। सेकेंड हैंड अनुभव संसार से बाहर निकालकर पाठकों को सच्ची अनुभूति से रू-ब-रू कराने का उल्लेखनीय कार्य महिला उपन्यासकारों ने किया।

महिलाओं की स्थिति में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन संयुक्त राष्ट्र के मानव अधिकार आयोग द्वारा मानवीय अधिकारों के घोषणा पत्र से हुआ, इससे पूरे विश्व में नारी की वैज्ञानिक स्थिति में परिवर्तन हुए, किंतु सामाजिक स्थिति में परिवर्तन आने में कई वर्ष बीत गए। इसलिए महिला लेखिकाओं का साहित्य दबे आक्रोश में उभरा है। यह आक्रोश पुरुष प्रधान समाज के प्रति है, लेकिन 20वीं शती के अंतिम दशक में महिला कथा लेखन अब केवल स्त्री समस्या और विद्रोह के रूप में नहीं रहा। बल्कि राजनीति और कूटनीति का कोई भी पक्ष उनकी लेखनी से ओझल नहीं हुआ। उसने राजनीति को केंद्रीय शक्ति के रूप में स्वीकारा है। उसने जान लिए है किंतु राजनीति व्यक्ति के जीवन को बहुत प्रभावित करती है।

भारत के अल्पसंख्यक मुस्लिम और पाकिस्तान के महाजिर सियासत के स्वार्थ को भेंट हो रहे हैं। राजनीति ने उनके परिवारों में सियासी दूरियाँ लाई है। नासिरा शर्मा ने दिलों को काटने, जमीन को बाँटने, घरों को उजाड़ने और इंसान को बारूद के ढेर पर बिठाने वाली राजनीति का विरोध कर इन्सानियत को महत्त्व दिया है। सांप्रदायिक राजनीति सदैव अल्पसंख्यकों के लिए खतरा बनती हैं। 'जिंदा मुहावरे' के मुस्लिम कहीं भी सुरक्षित नहीं हैं, न सरहद के इस पार, न उस पार। फँसाद और उनके भयंकर परिणाम यहाँ भी है और वहाँ भी। उन्हें पाकिस्तान बनने की कोई खुशी नहीं।

गरीबी, अकाल और भूख के चित्र भी इन उपन्यासकारों से छूटे नहीं है। 'अपने सलीबें' में संदर्भ दलित वर्ग का है तो 'कलिकथा : वाया बाइपास' में यह स्थिति उन्नीसवीं शती के अकालों से विश्वयुद्धों की देन गरीबी तक होती हुई स्वातंत्र्योत्तर काल पहुँच....सन् 2000 तक आई है। राजी सेठ के 'निष्कवच' में विदेश के डार्क रूम में अंधःकारमय जीवन झेलते भारतीय है। वैसे ही कोलकत्ता में रह रहे मारवाडी व्यापारी बंगालियत का अंग नहीं माने जाते। उनका



सारा संघर्ष अपने मारवाडीपन से निजात पाने का बन जाता है। पूर्वी पाकिस्तान का विभाजन, कोलकाता की सड़कों पर होने वाली सिविल वार, एक वर्ष से भी अधिक चलने वाले दंगे, गंधाती, गिद्धों का भोजन बनी लाशें सभी अलका सारावनी के 'कलिकथा: वाया बाईपास' में मिल जाता है। यहाँ मुहम्मद इकबाल, फातिमा, जिन्ना के नामों से लेकर द ग्रेट कलकत्ता कीलिंग, बाबरी मस्जिद में होने वाले हत्याकांड, मंडल कमीशन, खालिस्तान सभी का अंकन है।

प्रभा खेतान के 'छिन्नमस्ता' नारी की असुरक्षा की समस्या को उठाते हुए घरों में अपनों द्वारा बच्चियों का बलात्कार है तो 'अपनी सलीबे' नमिता सिंह में दलित वर्ग का। मृदुला गर्ग के 'कठगुलाब' में बहनोई यह दुर्दांत कर्तव्य निभा रहे हैं तो 'कलिकथा: वाया बाईपास' अंग्रेज सैनिक है। किंतु बलत्कार की प्रतिक्रिया, आत्महत्या, अपराधबोध और बेचारगी से प्रतिशोध नहीं तो प्रतिरोध है। यहाँ तक की सुषमा बेदी के 'इतर' उपन्यास में की 'निकोल' स्थिति उत्पन्न होने से पहले ही उभर आती है और बाबा रामानंद को पुलिस स्टेशन का सही रास्ता दिखा देती है। इन उपन्यासों में भ्रष्ट प्रशासनिक व्यवस्था, घूसखोर अफसर भी आए हैं और दहेज प्रथा, बाल मजदूरी जैसी समस्याओं को भी चित्रित किया है।

समाज सुधार के नाम पर दलितों के लिए आंदोलन तो किए जा सकते हैं किंतु उनके बदबूदार घरों में जाना उनकी निरीह क्षुद्रता और सामंती भय से मुक्त करना काफी कठिन काम है। दलित जीवन की पीड़ाओं, समस्याओं, बेचैनियों के अनेक पक्ष 'अपनी सलीबे' में मिल जाते हैं। अतीत और वर्तमान का तुलनात्मक अध्ययन करते अलका सारावणी ने 'कलिकथा: वाया बाईपास' में डेढ़ शताब्दी को समावेश करके 'पीरियाडिकल नॉवेल' का प्रयोग किया है। अब ऐतिहासिक उपन्यास के नाम पर इतिहास-पुराणों का अध्ययन पुराना हो गया है।

मानव मन के चेतन-अवचेतन परतों को खोलते हुए कुंठामुक्त नारी का चित्रण हिंदी उपन्यासों में इन महिला उपन्यासकारों में सर्वप्रथम किया है। कहीं वह कुंठित पति-पुरुष को नकार सीढ़ी पर सीढ़ी चढ़ने वाली प्रिया हैं तो कहीं अवैध संतान होने से जन्मी कुंठा नकारने वाली नीना (छिन्नमस्ता), तो 'अपने सलीबे' में दलित पति को अस्वीकार कर दलितों के लिए काम करने वाली नीलिमा है। 'कठगुलाब' में वह 'असीमा' बन कर लैस्विगन्स का विरोध कर रही है तो स्मिता बन अपराधबोधों को धिक्कार रही है और नीरजा बन काम का कुंठारहित रूप में आस्वादन कर रही है। 'इतर' में उसने दिल-दिमाग की सभी खिड़कियाँ खुली हैं। 'निष्कवच' में वह माँ बनकर कभी नीरा और कभी भार्या के देश में पहुँचे बेटे के मन की गुत्थियाँ सुलझा रही है।

मधु संधु के अनुसार 'मैला आँचल' सी आंचलिकता यहाँ भले ही न मिले, पर ग्राम्य भाषा तथा मुस्लिम संस्कृति के अंश, खानपान, वेशभूषा, रहन-सहन, रीति-रिवाज, अंध विश्वास, लोक विश्वास, पशु-पक्षी आदि है तो 'अपनी सलीबे' की कथा भुजपुरा, खुशीपुरा, मुरसान, मंजूरगढ़ी के आसपास घूमती है। मैत्रेयी पुष्पा का 'चाक' अतरपुर गाँव के ऐसे चित्र लिए हैं कि प्रबुद्ध पाठक भी एक बार रेणु के मेरीगंज गाँव को भूल जाता है। आंचलिकता का राग बोध, संगीत लहरियाँ, त्रासद वेदना और प्रगति का स्वर सब अतरपुर में है।

स्मृतियों की यात्रा पर निकलें यह उपन्यासकार अपने अंदर न जाने कितनी आत्माओं को समेटे हैं। निर्मल वर्मा ने कथाकार को 'आत्मा का जासूस' कहा है। उपन्यास कथाकार की मानस संतति है। जाने कितनी देर उनके आत्मा में पलने के बाद जुदा हुई है। उसके अनुभव

संसार से परिचित होने पर पाठक जान जाता है कि वह किसी सेकेंड हैंड अनुभव का नहीं बल्कि वह प्रत्यक्ष अनुभव का सीधा साक्षात्कार कर रहा है। इस प्रकार हम देखते हैं कि महिला लेखक विविध विषयों को लेकर इस अंतिम दशक में विस्तारित रूप से विकसित होकर समाज परिवर्तन की नई दिशाओं को खोज रहा है।

“महिला लेखन अपनी तमाम खूबियों और खामियों के बावजूद आधी दुनिया को अपनी रचनाओं में बड़ी खूबसूरती के साथ उपस्थित कर गया है और कर रहा है। तमाम संवेदनाओं की अभूतपूर्व अक्कासी करके कई मायनों में पुरुष से भी ज्यादा कामयाबी हासिल की है। नारी की कलम से नारी के विषय में जो कुछ लिखा गया है, वह अत्यंत सार्थक और सामाजिक है। महिला लेखन परिव्याप्ति के खुलने और जीवन की तस्वीर के पूरा हो जाने का साक्ष्य है।”

महिला उपन्यासकारों के रचनाकर्म को महिला ‘रचनाधर्मिता का विस्फोट’ कहा जा सकता है। इन महिला कथाकारों के कई उपन्यास ऐसे आए हैं। जिन्हें ‘कालजयी’ कहा जा सकता है। महिला उपन्यासकारों द्वारा लिखित उपन्यासों में चित्रा मुद्गल के ‘आवों’ 2000 और सन् 1990 में प्रकाशित ‘एक जमीन अपनी’ उपन्यास में बहुआयामी स्त्रियों को उभारा है। ‘आवों’ उपन्यास में मजदूर यूनियन के नेताओं के दोगले चरित्र, मजदूरों की समस्याएँ, मालिक के अत्याचार, मजदूर स्त्रियों के जीवन, आभूषण और मॉडलिंग की दुनिया से लेकर परिवार तक की तमाम समस्याएँ, सांप्रदायिकता आदि से संबद्ध विभिन्न पहलुओं को इस उपन्यास में उकेरा है।

‘एक जमीन अपनी’ में मुंबई के महानगरीय परिवेश को लेकर नारी की समस्याओं पर विचार विमर्श किया है। स्त्री मुक्ति के लिए चित्रा जी उपन्यास को पात्रों के माध्यम से कहती हैं “पुरुष से स्वतंत्र होना है तो पहले उन्हें सिंदूर पोछना होगा। बिछुए त्यागने होंगे! दासीत्व के प्रतीक चिह्न!” इस प्रकार दासीत्व के इन प्रतीकों को ही त्यागने की बात लेखिका कर रही हैं। वह कह भी रही है...मैं पत्नी नहीं, सहचरी बनना चाहती हूँ...पत्नी शब्द में मुझे दासीत्व की बू आती है...इस शब्द ने हमारे समाज में अपनी गरिमा खो दी है।”

### सहायक ग्रंथ-

1. (सं.) एम षण्मुखन, समकालीन हिंदी उपन्यास, पृ. 31
2. चित्रा मुद्गल, आवों, एक जमीन अपनी
3. प्रभा खेता, छिन्नमस्ता, (1993)
4. नमिता सिंह, अपने सलीबे, (1995)
5. मृदुला गर्ग, कठगुलाब, (1996)
6. राजी सेठ, निष्कवच (1995)
7. अलका, कलिकथा वाया बाईपास, (1990)
8. नासिरा शर्मा, ज़िंदा मुहावरे

यशवंत महाविद्यालय, नांदेड, महाराष्ट्र

## आधुनिक हिंदी आत्मकथाओं में दलित संवेदना

रमेश मनोहर लमाणी

हिन्दी दलित साहित्य का इतिहास अत्यंत पुराना है। 'दलित' शब्द के अंतर्गत कुचले गए, दबाए गए जनों की जीवन-कहानी उतनी ही पुरानी है, जितनी भारतीय हिंदू संस्कृति है। हजारों सालों से दलितों की यह गुलामी की स्थिति थी। जिनका जानवरों से भी गया गुजरा था। उच्च वर्ग के समाज ने हीन-दीन दलित समुदाय को गाँव के बाहर चिथड़ों में रहने के लिए मजबूर किया था। दलितों का कार्य उच्च कहे जाने वाले तीनों वर्गों की सेवा करना था। उनकी शिक्षा प्राप्ति पर प्रतिबन्ध, सम्पत्ति इकट्ठा करने पर रूकावट, अच्छे खाने-पीने पर रोक, अच्छे वस्त्र पर रोक लगा दी गई। उनका छुआ खाना-पीना दूर उनकी परछाई से भी परहेज किया गया। मारना-पीटना, कुत्ते, कैवे, बिल्ली के समान माना गया। धन इकट्ठा होने पर छीन लेना उचित कहा गया। पशुओं से भी बुरा व्यवहार उनके साथ होता रहा है।

ऐसी हीन अवस्था में हजारों वर्ष दलित समाज ने बिताये। पर उनकी ओर किसी का ध्यान नहीं गया। ऐसे में महात्मा फुले जैसे व्यक्ति ने जाति व्यवस्था पर प्रहार किया। इनके बाद सन् 1811 में डॉ. बाबा साहेब का जन्म हुआ और दलित समाज में परिवर्तन आया। भारतीय साहित्य में पहली बार मराठी में दलित साहित्य लिखा गया। बाद में अनुवाद के माध्यम से प्रेरणा लेकर हिंदी भाषा के प्रदेशों में दलितों ने लिखना प्रारंभ किया है। आज हिंदी दलित साहित्य विभिन्न विधाओं में हमारे समक्ष हैकहानी, कविता, उपन्यास और आत्मकथा के रूप में सबसे पहले आत्मकथा लिखने की परंपरा मराठी साहित्य से शुरू हुई। आज हिंदी में भी आत्मकथा सबसे सशक्त विधा के रूप में सामने आई है। दलित आत्मकथाओं ने दलित समुदाय के शोषण, अपमान, अवहेलना, तिरस्कार लिखकर पूरे समाज को यह बता दिया कि हमारा जीवन जानने के लिए किसी रची हुई कहानी या आख्यान की नहीं, स्वयं हमारे जीवन को देखना ज़रूरी है। जो प्रमुख आत्मकथा हिंदी दलित साहित्य में आए है। वे हैं-मोहनदास नैमिशराय की 'अपने-अपने पिंजरे', ओमप्रकाश वाल्मीकि की 'जूठन', कौशल्या बेसंत्री की 'दोहरा अभिशाप', सूरजपाल चौहान की 'तिरस्कृत', डॉ. डी. आर. जाटव की 'मेरा सफर मेरी मंजिल', माता प्रसाद की 'झोपड़ी से राजभवन', नरेन्द्र महर्षि की 'मेरे मन की बाइबल', डॉ. श्यौराज सिंह बेचैन की 'मेरा बचपन मेरे कंधों पर', प्रो. श्यामलाल की 'एक भंगी कुलपति की अनकही दास्तान', सुशीला टाकभौरे की 'शिकंजे का दर्द' और तुलसी राम की 'मुर्दहिया'। ये आत्मकथाएँ वेदना के गर्भ से जन्मी और पुरानी सामाजिक संरचनाओं को अस्वीकार करती हैं। इन आत्मकथाओं के लेखकों ने पूरे समाज व्यवस्था पर तमाचा मारा है। इसलिए इनकी

अपनी विशेष महत्ता है। क्योंकि इन आत्मकथाओं में लेखकों के वास्तविक जीवन का कटु छिपा हुआ है।

इन आत्मकथाओं में लेखक महोदय ने स्वयं जीये हुए परिवेश का यथार्थ अंकन किया है। इन आत्मकथाओं में निहित मूल संवेदनाओं का पक्ष इतना प्रबल है कि सारी वास्तविकता आइने के समान साफ हो जाती है। इन आत्मकथाओं में इन्हीं केन्द्रीय संवेदना को जानने के लिए इस प्रकार का विभाजन करना ज़रूरी होता है 1. सामाजिक संदर्भ 2. शैक्षणिक संदर्भ 3. आर्थिक संदर्भ।

### 1. सामाजिक संदर्भ

ये आत्मकथाएँ दलित समाज की जिंदगी और उनकी समस्याओं के माध्यम से ऐसे समय और समाज से परिचय कराती है कि हम उस वास्तविकता से अनभिज्ञ रहते हैं। उस समाज में रहने वालों को उस स्थिति का परिचय तो था, पर उससे टकराने का साहस कभी न था। ब्राह्मणवाद का गहरा प्रभाव एवं शोषण का भयावह रूप समाज पर दिखाई देता है। मोहनदास नैमिशराय ने 'अपने अपने पिंजरे' में मेरठ जिले के चमारों की स्थिति और उनके जीवन को अंकित किया है। समाज में व्यक्ति का दर्जा और हैसियत उसकी जाति से तय की जाती है। लेखक इस समस्या से गुजरते हुए लिखा है "हिंदू समाज में आदमी की कीमत उसकी जात से आंकी जाती थी। हमें विशेष तौर पर चमारचूहड़े नाम से संबोधित किया जाता है।"<sup>1</sup>

भारतीय जातिग्रस्त समाज में हर एक को सबसे पहले व्यक्ति की जाति के बारे में जानने की जिज्ञासा रहती है। दलित जानते ही सवर्ण उनसे मुँह मोड़ लेते हैं। एक बार लेखक अपने बड़े भाई के साथ बहन के घर जा रहे थे, उन्हें प्यास लगी सवर्ण के घर से पानी मांगते तो वे सबसे पहले उनकी जाति पूछते हैं। दलित मालूम होते ही कहते हैं "तो म्हारे घर के अग्गे कियों खड़े हो। जाओ सिद्धे-सिद्धे आगे चमारों के घर पड़ेंगे पैंगे।"<sup>2</sup> इस प्रकार ब्राह्मणवादी व्यवस्था का यथार्थ अंकन हुआ है।

ओमप्रकाश वाल्मीकि की आत्मकथा 'जूठन' में दलितों की दयनीय स्थिति का चित्रण प्रस्तुत हुआ है। बरला गांव के व्यक्तियों पर त्यागियों से होने वाले अत्याचार का यथार्थ अंकन हुआ है। जूठन में हर आदमी लेखक से पूछते हैं कि "तू कुण जात का है। अबे चूहड़े के दूर हट बदबू आ रही है।"<sup>3</sup> चूहड़े जाति के कारण कुलकर्णी की बेटी सविता वाल्मीकि के प्रेम से मुँह मोड़ लेती है। सन् 1980 में जब पति सहित वाल्मीकि जी रेल में सफर करते समय एक मंत्रालय के परिवार से परिचय होता है। आत्मीयता भी बढ़ गयी पर जैसे ही भंगी जात का सुनते ही बिगड़ जाते हैं और डिब्बे में सन्नाटा छा जाता है।

शयौराज सिंह बेचैन की 'मेरा बचपन मेरे कंधों पर' इस आत्मकथा में एक अस्पश्य बालक का बचपन आंसुओं तकलीफों और संघर्ष से भरा है। बालक शयौराज सिंह के सर पर पिता का साया नहीं है। यह कैसी नियति है कि हर्षमय और उल्लासमय बचपन की स्मृतियों की जगह त्रासद स्मृतियों ने ले ली थी। ये स्मृतियाँ लेखक के मन पर अमिट छाप छोड़ी हुई हैं। बालक शयौराज ने अपने परिवार को ढोने के लिए अंधे बाबा के साथ कुट्टी काटने, मशीन खींचने तथा मृत पशु ढोने का काम किया। फिर भी परिवार के भूख शांत करना असंभव था। वे लिखते हैं-"अभी तक प्राण निकले थे। रात को सब बस्ती सो रही थी और

हम सब भूख के मारे व्याकुल थे। बब्बा ने अपने पास जमा आधा सेर चावल की गाँठ दी। ...ताई ने चावल गर्म दिये थे। नमक डालकर हमने थोड़े-थोड़े बाँट खाये।”<sup>14</sup> जब माँ का पुनर्विवाह गरीब रामलाल चमार से करवा दिया तो वह तीन सौतेले बच्चों को पालने में असमर्थ था। परिणामस्वरूप श्यौराज एवं भाई-बहनों को दोहरी मार झेलने पड़ती थी। ‘तिरस्कृत’ आत्मकथा में सूरजपाल चौहान ने ब्राह्मणवाद के उत्पीड़न के साथ-साथ अपने परिवार, रिश्तेदारी दलित समाज द्वारा मिली मानसिक पीड़ा और तिरस्कार को उद्घाटित किया है। इस आत्मकथा द्वारा जाति का बीज कितना गहरा एवं भयानक होता है, इसका स्पष्ट रूप मिलता है। सूरजपाल चौहान अपने गांव जा रहे थे तो बच्चे व पति को प्यास लगी। कुँ से पानी निकाल कर पीने लगे तो जमीनदार दाँत पीसता हुआ बोला “अरे भंगनिया, नेक पीछे कू हट के पानी पी, यह शहर ना है गाँव है, मारे लठिया के कमर तोड़ दई जाएगी। .....भैचे-भंगियों और चमट्टा के सहर में जाके नएनए लत्ता पहन के गाँव में आ जात है, कछु पतौ न चलतु कि जे भंगिया के हैं कि नाँय।”<sup>15</sup> इस प्रकार सूरजपाल चौहान को हर जगह सवर्णों के व्यवहार को झेलना पड़ा। उन्हें भंगी होने का दर्द महसूस किया उसे जिया है।

## 2. शैक्षणिक संदर्भ

मानवतावादी डॉ. अंबेडकर जी के प्रभाव के कारण दलित शिक्षा के प्रति आकृष्ट हुए और समाज में अपनी दयनीय दशा से ऊपर उठने का एक ही प्रमुख अस्त्र शिक्षा को मान लिया था। ‘अपने अपने पिजरे’ आत्मकथा में पी. टी. इंस्ट्रक्टर शिवकुमार शर्मा लेखक और दलित साथियों को कहते हैं “अब तुम से पढ़ने के लिए कौन कहता है? बस जूते-चप्पल बनाओं और आराम से रहो। चले आते है ससुर न जाने कहाँ-कहाँ से।”<sup>16</sup> इस प्रकार सवर्ण शिक्षक कोई न कोई बाँधा खड़ा कर देते। गाँव के स्कूल को चमारों का स्कूल कहा जाता। सवर्ण शिक्षक दलितों को अंट-शंट नामों से पुकारते। शिक्षक ऐसा वातावरण बना देते है कि पढ़ाई समाप्त होने से पहले ही छोड़ दे। लेखक कहते है अरे पढ़ लिखकर क्या तू लाट गवर्नर बन जाएगा। गाटेगा तो यहीं चीतरे। दलितों के आरक्षण एवं वजीफे को लेकर सवर्ण जलरे हैडक्लर्क के शब्दों में- “अरे भाई इसमें इनकी गलती थोड़ा ही है। आरक्षण देकर दिमाग खराब किया है। अब तो ये सरकारी दामाद है।”<sup>17</sup>

‘जूठन’ आत्मकथा में भी यही शिक्षा नीति का परिपालन वाल्मीकि जी के साथ हुआ था। ओमप्रकाश जी को हेडमास्टर ने खानदानी काम का ज़िंकराते हुए कहा था “ठीक है वह जो सामने शीशम का पेड़ खड़ा है उस पर चढ़ जा और टहनियों की झाड़ू बना ले। पत्ते वाली झाड़ू बनाना फिर पूरे स्कूल को ऐसा चमका दे जैसे सीसा। तेरा तो यह खानदानी काम है।” “स्कूल में मास्टर जी को प्रश्न पूछने पर मुर्गा बनाना पड़ता “घोर कलियुग आ गया है जा..एक अछूत जभान जोरी कर रहा है।” स्कूल का वातावरण इतना भयानक था कि हेडमास्टर सुअर के समान लगते “हेडमास्टर को देखकर मेरी रूह काँप जाती थी लगता जैसे सामने से मास्टर नहीं कोई जंगली सुअर थूथनी उठाये चिंचियात चला आ रहा है।”<sup>18</sup> यह व्यवस्था सवर्णों के लिए स्वर्ग और दलितों के लिए नरक निर्माण करती है।

‘मेरा बचपन मेरे कंधों पर’ आत्मकथा में श्यौराज सिंह बेचैन जी ने अपने जीवन को सुधारना है तो शिक्षा से मात्र संभव मान लिया था। पर सौतेला बाप शिक्षा के विरोध में थे पर माँ उसे पढ़ाने में कटिबद्ध थी “मैं मन मसोस के कह रही हूँ, बंदे याद रखियो, जो सौराज

जरूर पढ़ेंगे। भगवान के घर देर है अंधेर नाँही है और तु कितनोऊ जल मरि, तेरे याहिवे ते रूपा नायँ पढ़ि पावेंगे इस प्रकार माँ उसे प्रोत्साहित करती। लेखक ने अपने हिम्मत से भूख, दारिद्र आदि का सामना कर पी. एच-डी. तक की शिक्षा प्राप्त की है।

सूरजपाल चौहान की आत्मकथा तिरस्कृत में शिक्षा को पाने में आई बाँधाओं पर भी लिखा है। संस्कृत के अध्यापक उन्हें जाती का ओछापन याद दिलाते और अपने साथी अध्यापकों को उन्हें संकेत कर कहते “यदि देश के सारे चूहड़े चमार पढ़-लिख गये तो गली मोहल्ले की सफाई और जूते बनाने का काम कौन करेगा?” इस प्रकार अध्यापक दलितों को सफाई और जूते बनाने के लिए अनपढ़ रखना चाहते हैं। स्कूल में सवर्ण बच्चों से दूर पीपल के पेड़ के नीचे बिठा देते और कभी कभार एक रेखा खींच देते। सहपाठी भी उनकी जाति जानते ही दूर हो जाते। जब कॉलेज सूचना पट पर वजीफे का लिस्ट देखते ही अनूप जैन कहता है “अरे चौहान क्या तुम राजपूत नहीं होशड्यूलड कास्ट हो क्या?” आगे उनका मित्र कहता है “अरे देखो चूहड़े भी “ठाकुर” और राजपूत बनने लगे। सूरजपाल जी ने अपने पिता के अथक प्रयासों से बी. ए. तक की शिक्षा प्राप्त की और नरक जीवन से मुक्ति पा ली।

### 3. आर्थिक संदर्भ

दलितों को निरंतर आर्थिक संघर्ष से गुज़रना पड़ता है। ‘अपने अपने पिंजरे में लेखक ने समाज में स्वर्णों द्वारा दलितों के आर्थिक शोषण का चित्रण अंकित किया है। वे अपने मेहनत से बनाये वस्तुओं में कोई न कोई दोष निकालते हैं और पूरा दाम नहीं देते। इनके परिश्रम से दूसरे ही लखपति बनते हैं। लेखक लिखते हैं “इन दस्तकारों को एक जोड़ी चप्पल सिर्फ एक रुपया ही मिलता था, सैंडिल पर डेढ़ या दो रुपया मिल जाते थे। पर दुकानदार इन्हें कभी भी पूरे पैसे नहीं देते।”<sup>9</sup> इस प्रकार आर्थिक दशा का चित्रण मिलता है।

‘जूठन’ आत्मकथा में आर्थिक कष्टों का अत्यंत सजीव चित्रण हुआ है। वाल्मीकि जी की माँ आठ-दस तगाओं के घरों में मवेशियों को बाँटने की जगह पर साफ सफाई का काम करती थी। माँ के सात भाई, बाबी एवं बहन भी काम करती थी। इसके बदले 12-13 किलो अनाज, दोपहर की बची कुंची रोटी, कभी-कभी भंगन की टोकरी में ‘जूठन’ भी डाल दिया जाता। इस अमानवीय व्यवस्था पर आक्रोश प्रकट करते हुए लेखक ने लिखा है अपने श्रम के मूल्य मांगना अपराध क्यों है?<sup>10</sup> वाल्मीकि जी अपने चाचा के साथ मरे हुए बैल को उठाने, खाल बेचने चले जाते पर मित्रों की दृष्टि से बचने का प्रयास करते थे।

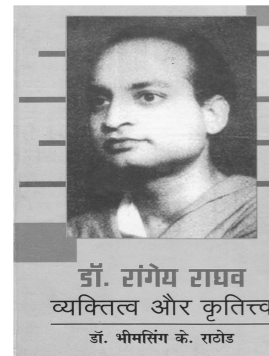
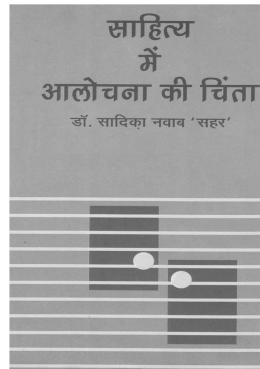
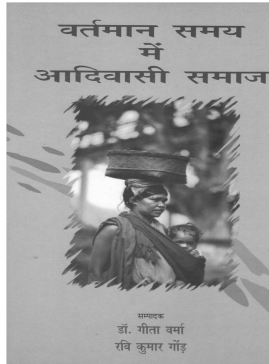
‘मेरा बचपन मेरे कंधों पर’ आत्मकथा में श्यौराज के आर्थिक तंगी का जीवन्त चित्रण मिलता है। पिता की मृत्यु के बाद लेखक ने अनेक मुसीबतों का सामना किया। सूरजपाल चौहान ने ‘तिरस्कृत’ आत्मकथा में दलितों की आर्थिक दुर्दशा का बड़ा फलक सामने रखा है। आर्थिक मजबूरी उन्हें गुलाम बनाती रही। लेखक भूख के कारण अपनी माँ के साथ जूठन उठाने जाते। अपने गांव के राधे लोधे की लड़की का विवाह संदर्भ का उदाहरण देते वह लिखते हैं कि “मैं खाना खाते बारातियों को टुकुरटुकुर देखे जा रहा था। मेरे मुँह से जैसे लार टपकने वाली थी। मैं रह-रह कर माँ की ओर देखता और माँ बिना कुछ कहे मेरे ऊपर हाथ फेरे जा रही थी। लेखक सोचता है “हमारी स्थिति कुत्तों से भी गई गुज़री थी। गेहूँ के आटे की रोटी तो लेखक के लिए कल्पना मात्र थी।”<sup>11</sup> इस तरह आत्मकथाकारों ने अपने आर्थिक स्थिति का सजीव चित्रण किया है।

दलित आत्मकथाएँ दलित संघर्ष की सार्थकता को रेखांकित करती हैं। लेखकों द्वारा भोगी हुई पीड़ा का सत्य इतना कटु होता है कि पाठक निरंतर सोच में पड़ जाता है। वह बार-बार सोचता है कि समाज ऐसा क्यों है? तभी आत्मकथाएँ सार्थकता को पार कर जाती हैं शिक्षा के प्रति डॉ. अंबेडकर के नारे से सारे दलित जागृत हो रहे थे इन लोगों ने अंबेडकर के सपने को साकार बना दिया। अंत में यह कह सकते हैं कि ये आत्मकथाएँ दलितों के लिए मात्र सीमित नहीं हैं, पिछड़े हुई जितनी भी जातियाँ हैं उनके लिये सोचने पर मजबूर करती हैं। केवल मजबूर मात्र नहीं करती लड़ने का साहस भी देती हैं। साथ-साथ अपने जीवन को सुंदर बनाने का संदेश भी देती हैं। इसलिए ये आत्मकथाएँ भारतीय इतिहास का दस्तावेज़ भी हैं।

### आधार ग्रंथ-

1. मोहनदास नेमिशराय, अपने अपने पिंजरे
2. ओमप्रकाश वाल्मीकि, जूठन
3. श्यौराज सिंह बेचैन, मेरा बचपन मेरे कंधों पर
4. सूरजपाल चौहान, तिरस्कृत

शोधार्थी, हिंदी विभाग, मैसूर विश्वविद्यालय, मानस गंगोत्री, मैसूर-570006



## सुरेन्द्र वर्मा के उपन्यासों में सांस्कृतिक विघटन

श्री टी. टी. लमाणी

सुरेन्द्र वर्मा ने साहित्य के विविध क्षेत्रों में कलम चलाई है। उपन्यास, कहानी, नाटक, व्यंग्य तथा कविता के क्षेत्र में भी सिद्धहस्त हैं। वह एक समर्थ आलोचक भी है। मध्य प्रदेश के प्रसिद्ध कवि सुभाष दशोत्तर की कविताओं का मूल्यांकन करते हुए उन्होंने अपने आलोचनात्मक व्यक्तित्व को प्रमाणित किया है। प्रकार, नटरंग जैसे पत्र-पत्रिकाओं में इनके कविता, नाटक तथा विचारपूर्ण लेख भी प्रकाशित हुए हैं। इनके अनेक नाटकों से स्पष्ट होता है कि इतिहास में सुरेन्द्र वर्मा की दिलचस्पी कितनी गहरी है। हिंदी रंगमंच तथा अंतर्राष्ट्रीय फिल्म जगत में भी उनका महत्वपूर्ण स्थान है। वे एक सफल नाटककार तथा रंग निर्देशक भी हैं। केन्द्र संगीत नाटक अकादमी तथा भारती परिषद द्वारा भी वे सम्मानित हुए हैं।

सुरेन्द्र वर्मा ने संस्कृति का अर्थ भारतीय परंपरा शीर्षक लेख के माध्यम से इतिहास क्रम के आधार पर संस्कृति और परंपरा की नई दृष्टि को पाठकों के सामने प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। इनके द्वारा रचित उपन्यास है 'अंधेरे से परे' (1980) यह सुरेन्द्र वर्मा जी का पहला उपन्यास है। इनके बाद उन्होंने 'मुझे चाँद चाहिए' (1993), 'दो मुर्दों के लिए गुलदस्ता' (1998) जैसे उपन्यास भी लिखा है। इस उपन्यासों के द्वारा उन्होंने आधुनिक युग में बिगड़ी हुई संस्कृति एवं विसंगतियों को प्रस्तुत किया है।

संस्कृति देश की नींव होती है। अगर उसमें विषमता पड़ जाए तो वह देशरूपी महल हिलने-डुलने लगेगा तथा उस देश का अपनत्व नष्ट हो जाएगा। मानव अपने अनुभवों से जिन श्रेष्ठ मूल्यों को स्थापित किया था, उन्हें नये संदर्भों में पुनः मूल्यांकित करना आधुनिकता है। यह प्रगतिशील प्रक्रिया है और संदर्भ के अनुसार बदलती रहती है। मानव आज कल पुराने मूल्यों को भूलकर नयेपन के पीछे दौड़ रहे हैं। इस भागदौड़ में नयी सामग्री तथा नये कौशल नवीन संदर्भों की रचना करते रहे हैं। आजकल उद्धोग आंकाक्षी के तलाश में लोगों ने ग्रामीण प्रदेश छोड़कर देश-विदेश की ओर पलायन करना शुरू किया है। अपने स्वार्थ के लिए संस्कृति के महनीय मूल्यों को भी छोड़ने के लिए सिद्धहस्त है। पैसे के पीछे की भागदौड़ में भिखारी से समस्याओं तथा संघर्षों का सामना करना पड़ा और समाधान खोजने के लिए समय भी नहीं रहा। अतः सुरेन्द्र वर्मा के उपन्यासों का स्थिति भी इसी प्रकार की होती है।

'मुझे चाँद चाहिए' उपन्यास की वर्षा उत्तर प्रदेश के एक गाँव की युवती है। वह पहली बार नाटक करने के लिए घरवालों की अनुमति के बिना दिव्या के साथ लखनऊ चली जाती है। वहाँ नाट्य विद्यालय के हर्ष से वर्षा की मुलाकात होती है। यही मुलाकात शारीरिक



संबंध की हद तक पहुँच जाती हैं, लेकिन वर्षा को इस अनैतिक संबंध में कोई दुःख नहीं, उनके मन में आनंद महसूस होता है। वर्षा अपने मन में यह सोचती है कि “मैं स्त्री बन गयी हूँ! मैं स्त्री बन गयी हूँ!” लेकिन भारतीय संस्कृति के अनुसार विवाह के पहले पुरुष के साथ शारीरिक संबंध ठीक नहीं हैं। महानगर में कोई कहीं भी जाए, उनके लिए पाबंदी नहीं होती। जहाँ स्त्री-पुरुष मित्रों के साथ मिलकर मदिरापान करते हैं। सुख-भोग का अंतिम चरण शराब, ड्रग्स और अफीम है। हर्षा नाट्य विद्यालय में ड्रग्स सेवन करता था, लेकिन बहुत कम। पर बंबई में आकर इसी वजह से अपनी संपत्ति नष्ट कर देता है। जब वर्षा दूसरी बार ड्रग्स एडिक्ट्स के एक अड्डे से हर्षा को ढूँढ निकालती है। “आज दूसरी बार हर्षा को चेतनाहीन देखकर वर्षा सकपका गयी। मदिरा और ड्रग्स में क्या आधारभूत अंतर होता है, यह वर्षा के सामने थोड़ा-सा उजागर हुआ।”<sup>2</sup> हर्षा की मृत्यु भी ओवरडोज ड्रग्स के वजह से हुई थी। अपने प्रेमी हर्ष की मृत्यु हो जाने पर वह भावनात्मक विधवा बन गयी थी। दुःख में डूबी हुई वर्षा ने अपने अस्फुट स्वर में कहा “मेरे वास्ते चन्द्रमा हमेशा के लिए बुझ गया है।”<sup>3</sup> हर्ष की मृत्यु के बाद पता चलता कि वर्षा गर्भवती है, लेकिन भारतीय संस्कृति इसके विरुद्ध है और अविवाहित नारी का गर्भवती होना अनैतिक है। अपने संस्कृति को तोड़कर दूसरों के साथ सम्मिलित होना सभी चाहते हैं। पर अपनी संस्कृति का एक पहलू जो हमेशा के लिए हर आदमी के अंदर बना रहता है, उसे कभी मिटा नहीं सकते। वर्षा जहाँ भी जाए और जो भी करे, मन ही मन वह भारतीय नारी ही है। वह अपने रास्ते में आने वाली बाधा तत्त्वों को एक सीमा तक लांघने की कोशिश करती है।

वर्षा का प्रेमी था हर्ष, लेकिन हर्ष के साथ के संबंध के रहते वर्षा सिद्धार्थ के भी निकट आती है। वह रिश्ता चुंबन तक सीमित था। फिर भी सिद्धार्थ तो यह मानता था कि वर्षा उसकी प्रेमिका है। हर्ष के बारे में जानकर सिद्धार्थ का दिल टूट जाता है और आत्महत्या की कोशिश करता है। भारतीय संस्कृति का एक पहलू जो हमेशा के लिए हर आदमी के अंदर बना रहता है उसे कभी मिटा नहीं सकते।

“अंधेरे से पेरे” उपन्यास के नायक ‘गुलशन’ अपने ही घर में अजनबी की तरह रहने वाला बेरोजगार युवक है। अपनी बहन पति से अलग होकर अन्य पुरुष के साथ अपनी पसन्दी की जिंदगी जी रही है। अपने बच्चे पर भी वह ध्यान नहीं देती। जब गुलशन एक दिन विज्ञापन से संबंधित कार्यक्रम में भाग लेते वक्त इनका परिचय एक शादी-शुदा औरत मधु से हो जाता है। यह संबंध सीमा लांघ जाती है। ‘विज्ञापन और सेक्स’ को लेकर एक परिचर्चा में ‘मधु’ सेक्स के बारे में कहती है कि “वैसे मुझे विज्ञापन में सेक्स को लेकर शर्म नहीं आएगी, अगर लोग आंशिक नग्नता पर पैसे खर्च करने के लिए तैयार हो, लेकिन सेक्स के ऊपर ज़रूरत से ज्यादा बल देने पर मैं चेतावनी देती हूँ, तथाकथित नैतिकता की दृष्टि से ही नहीं, बल्कि व्यावसायिक रूख से भी...।”<sup>4</sup> भारतीय संस्कृति में इतना पतन आ गया कि मधु अपने ही घर में पति ‘रोहन’ के होते हुए भी गुलशन को अपनी बेडरूम में ले जाती है और अगले दिन शारीरिक संबंध भी हो जाता है। ‘मधु’ से संबंध टूटने के बाद वह अंधेरे में रहना नहीं चाहता। इनकी दोस्ती दूसरी लड़की ‘नलिनी’ से होती है। नलिनी अपने प्रेमी से गर्भवती हो जाती है और वह एबोर्शन के लिए गुलशन का सहारा लेती है। यह गुलशन का अंधेरे से पेरे जाने का निश्चय उनका आशावादी दृष्टिकोण है।

गुलशन अपने दोस्तों के साथ एक ‘बार’ में गया तो उसका ध्यान नृत्य करने वाले दो

जोड़े पर गया और उसको पता चला कि वह बिंदो ही है। दोस्तों के साथ मदिरापान करने के लिए लड़कियाँ भी चली जाती है। नलिनी विवाह से पहले गर्भवती होना आदि हमारी संस्कृति के खिलाफ है। महानगर में यह सब हो सकता है। दूसरों की तरफ कोई देखता नहीं।

‘दो मुर्दों के लिए गुलदस्ता’ का ‘नील’ दिल्ली विश्वविद्यालय का शोध छात्रा है वह अपने गुरु का प्रिय शिष्य था। ‘नील’ ने एक पल के लिए अपना निजपन भूलकर प्रो. शर्मा के भाई की बेटी के साथ शारीरिक संबंध रखता है और वह लड़की गर्भवती भी हो जाती है। माया के जाल में फँसा हुआ नील सब कुछ खो देता है। अपनी माँ को, प्यार को तथा इज्जत को। महानगर की सबसे बड़ी विशेषता यह रही कि सब लोग अपने सुख के बारे में सोचते हैं। नील पुरुष वैश्या बन जाता है और इनको कामकला सिखाने वाली कुमूद सांस्कृतिक विघटन का अच्छा उदाहरण है। अपनी कामवासना की पूर्ति के लिए पैसे देने वाली अघेड़ उम्र वाली नारी महानगर की संतान है।

लोग ऐसे भी होते हैं जो समाज में उच्च पद हासिल करने के लिए तथा परिवार को बनाये रखने के लिए पत्नी को भी बेचने या पत्नी के हितानुसार अन्य पुरुष संबंध के लिए भी तैयार हो जाते हैं। पत्नी के परपुरुष संबंध के बारे में जानने के बाद भी पत्नी को छोड़ने के लिए वे तैयार नहीं होते क्योंकि पत्नी के पास धन है। इसीलिए ‘पारूल’ और नील के संबंध को जानने के बाद नील से जयंत कहते हैं कि उसकी ज़िंदगी का एक मात्र मकसद उसका काम है और वह लालच को बहुत पवित्र भावना मानते हैं। पारूल की बातों से उसकी एकाग्रता भंग होती है, लेकिन पारूल के नष्ट होने का मतलब है ‘एसैट्टस का बँटवारा। इसलिए वह नील से कहती हैं- “हमारे एसैट्टस का बँटवारा होगा। मेरी शक्ति एक तिहाई रह जाएगी।”<sup>5</sup> कुछ क्षण मौन रहा और जयंत घड़ी पर निगाह डाली। फिर जेब से एक बंडल निकालकर उसके हाथों में रखते हुए आवेग से कहा- “मेरा घर न टूटे इसके लिए तुम्हारी मदद चाहिए”<sup>6</sup> पारूल भी अपने पति-बच्चे को भूलकर अपनी खुशी के लिए निकलती है। धर्म, संस्कार, किसी की भी परवाह नहीं करता। उपन्यास में ऐसी अनेक नारियाँ हैं जो पल भर के सुख के लिए मुँह छिपा के नील जैसी एक एजेंसी भी है जो नील जैसे लोगों के लिए खोली गई है। इन सबके बावजूद वे अपने अंदर ही अंदर भारतीय सांस्कृति की गरिमा को बनाए रखती हैं।

महानगर में आने के बाद पैसा कमाने की लालच में वे पथभ्रष्ट तो होते ही हैं। सांस्कृतिक मूल्यों में इतने बड़े दरार आने के बाद भी उनका सशक्त रूप हमेशा के लिए बना रहता है। परंपरा से हमें उन मूल्यों को वही रूप प्राप्त होता रहा, जो अतीत में बना था। रचनाकार हमें सांस्कृतिक फिसलन से अवगत कराने का कार्य करते हैं। यह ठीक है- “आवाज़ें खरीदी जाती हैं, आत्माएँ खरीदी जा सकती हैं, दुनिया की सारी चीज़ें खरीदी जा सकती हैं, लेकिन सब कुछ थोड़े समय के लिए, आप हमेशा के लिए हर आवाज़ को नहीं खरीद सकते हैं। हर व्यक्ति की आत्मा कुचली नहीं जा सकती।”<sup>7</sup>

अकेलापन, अजनबीपन, सांस्कृतिक विघटन व्यक्ति का यथार्थ जैसी बातों के पात्र खोलने में सुरेन्द्र वर्मा के उपन्यास बहुत सहायक निकले हैं। महानगरीय परिवेश और नव-उपनिवेशवादी संस्कृति की पहचान दिलाते हुए हमारी संस्कृति की गरिमा तथा अस्मिता को बनाये रखने की कोशिश उपन्यासों में विद्यमान है। सांस्कृतिक मूल्यों को ठुकराकर सुख-भोग के पीछे भागने वाले समाज का पतन डगमगा रहा है। महानगरीय ज़िंदगी की गन्दगियों का वास्तविक वर्णन

इनमें भरे पड़े हैं। मदिरापन, नाइटक्लब, ड्रस और अफ्रीम का उपयोग ये सब महानगर के अनुपेक्षणीय पहलू बन गये हैं। कोई संदेह नहीं कि समय के मर्म को पकड़ने, असामाजिक वृत्तियों से सजग कराने तथा हमारी अपनी संस्कृति की ओर ध्यान दिलाने में सुरेन्द्र वर्मा सक्षम निकले है।

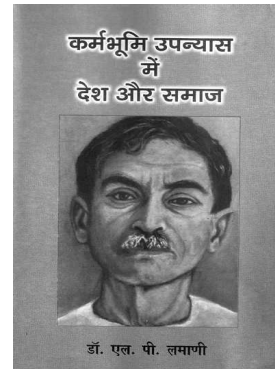
### संदर्भ-

1. सुरेन्द्र वर्मा, मुझे चाँद चाहिए, पृ. 121
2. वही, पृ. 389
3. वही, पृ. 547
4. सुरेन्द्र वर्मा, अंधेरे से परे, पृ. 73
5. सुरेन्द्र वर्मा, दो मुर्दों के लिए गुलदस्ता, पृ. 164-165
6. वही, पृ. 164-165
7. वही, पृ. 349

शोधार्थी-हिन्दी विभाग, कर्नाटक विश्वविद्यालय, धारवाड़

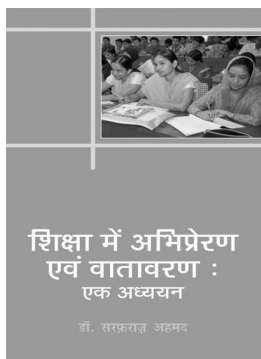
### ‘कर्मभूमि’ उपन्यास में देश और समाज

प्रेमचंद के सामाजिक संघर्षों को एक क्रांतिकारी दिशा देती हुई प्रस्तुत रचना ‘कर्मभूमि’ देश और समाज के लिए एक आदर्शवादी तथा यथार्थवादी प्रेरणा स्रोत के रूप में रची गई अनोखी रचना है। उनका सृजन ग्रामीण और शहरी संस्कृति और आँचलिकता से रंगा हुआ है। लेखक ने यथार्थ और अपने अनुभव के आधार पर सामन्तवाद, पूँजीवाद, नारीवाद, मानवीय अधिकार आदि पर अपनी लेखनी चलाई है। ...प्रेमचंद ने अपने लेखन में मजदूरों, किसानों, अछूत वर्ग के शोषण, प्रताड़ना पर गहरा आक्षेप किया है। उन्होंने नारी के विविध रूपों का आकलन किया है। नारी जीवन और उसकी सामाजिक स्थिति में आये परिवर्तन पर विचार प्रस्तुत किया है। नारी जीवन और उससे जुड़ी अनगिनत, असंगतियों, विसंगतियों तथा विडम्बनाओं आदि का अंकन किया है। **मूल्य -160**



### शिक्षा में अभिप्रेरण एवं वातावरण : एक अध्ययन

मनुष्य के विकास और उसकी शिक्षा के सन्दर्भ में वातावरण की भूमिका महत्वपूर्ण है। मनुष्य का सम्बन्ध जिस प्रकार के वातावरण से होता है वह उसी के अनुरूप व्यवहार और अधिगम करता है। इस तथ्य को स्पष्ट करते हुए दर्शन के विभिन्न सम्प्रदायों के दार्शनिकों ने अपने-अपने सिद्धान्तों के निष्कर्ष के अनुरूप वातावरण की महत्ता दर्शायी है। आदर्शवादी सम्प्रदाय के दार्शनिक वातावरण को स्वच्छ, शुद्ध, निर्मल और संस्कारी बनाने का प्रबल समर्थन करते हैं, जिससे मनुष्य में अच्छे आचरण और कुशल संस्कार का समावेश हो सके। यथार्थवादी सम्प्रदाय के दार्शनिक वातावरण को शिक्षा का प्रमुख अंग मानते हैं,.... दार्शनिक शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य शिक्षार्थियों को वातावरण के अनुरूप बनाने का समर्थन करते हैं, जबकि व्यवहारवादी सम्प्रदाय के दार्शनिक सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करने में वातावरण द्वारा प्राप्त ज्ञान को महत्वपूर्ण मानते हैं। **मूल्य -400**



## हिंदी नवजागरण की अवधारणा

डॉ. सैय्यद एकबाल मजाज़

नवजागरण भारतीय जनता के स्वाधीनता संघर्षों का साक्ष्य है। स्वाधीनता आंदोलन के दौरान अंदरूनी और बाह्य स्तरों पर ऐसी कई शक्तियाँ थीं जो विभिन्न क्षेत्रों में अपने निश्चित लक्ष्य के साथ सक्रिय थी। सरसरी तौर पर देखे तो परस्पर भिन्न दिखती हुई भी ये शक्तियाँ नवजागरण के बृहत्तर रूप में शामिल थी। कुछ लक्ष्य ही ऐसे थे जिनका ब्रिटिश सत्ता से उनका सीधा विरोध न था। कुछ तो सत्ता सहयोग के मुखापेक्षी भी बने रहे, लेकिन भारतीय समाज को जगाने के लिये, उसमें बेहतर परिवर्तन के लिये विभिन्न स्तरों पर सक्रियता ज़रूरी थी। दरअसल क्रिया का स्वरूप उनके लक्ष्य की प्रकृति और तत्कालीन परिस्थितियों पर ही निर्भर था, लेकिन जातिभेद, धार्मिक भिन्नता और अन्य मामलों में अवश्य ऐसी भिन्नताएँ और सक्रियताएँ रही जिनमें अंतर्विरोध रहे, लेकिन आज इसका आकलन करते समय हमें अतिरिक्त सावधानी और समझ दिखानी होगी।

अगर हम आलोचक खगेंद्र ठाकूर के इस विचार को ले कि किसी रचनाकार के अन्तर्विरोधों को नवजागरण का अंतर्विरोध नहीं मानना चाहिए, तब प्रश्न यह उठता है कि किसी रचनाकार विशेष के स्वर को ही प्रतिनिधि क्यों माना जाए? ऐसा इसीलिए कि प्रतिनिधि स्वर वही होता है, जो समाज को आगे ले जाने का आह्वान करता है, जिसमें आने वाले समय के पश्चाप होती है। इस दृष्टि से अगर हम नवजागरण पर दृष्टि डाले तो उससे जुड़ी सोचसमझ तथा विचार हमारा ध्यान आकृष्ट करते हैं।

इतिहास बार-बार लिखा जाता है, वह दुहराया नहीं जाता। वह तब भी लिखा जाता है, जब उसके भीतर से धड़धड़ घटनाएँ निकलती हैं। नवजागरण एक विश्वव्यापी मामला था। क्योंकि दुनिया में नवजागरण के हर भारतीय रूप की अपनी विशिष्टता है। विश्वव्यापी नवजागरण में कुछ ऐसे तत्त्व व्यापकता से शामिल रहे हैं, जिनमें सामंतवाद, मध्यकालीनतावाद और धार्मिक सत्ता के कठोर नियंत्रण से छुटकारा, वैयक्तिकता की पहचान, मोक्ष की धारणाओं से मुक्त होकर भौतिक दुनिया के महत्त्व की समझ, वैज्ञानिक जिज्ञासा, सचेत रूप से समाज सुधार के प्रयास, बुद्धिमत्ता का धमाका, लगातार प्रगति का सिद्धांत, एक नई जीवन शैली, एक नई संस्कृति और एक नई दुनिया की ओर प्रयास आदि हैं। नवजागरण के ये तत्त्व हमारी वैश्विक उपलब्धियाँ हैं।

यह आश्चर्यजनक नहीं है कि भारत में लंबे समय तक विभिन्न क्षेत्रों में नवजागरण को लड़ाकर देखने की प्रवृत्ति रही है। पिछले 40 सालों के नवजागरण-विवाद में मुख्यतः उभरकर

यह आया है कि बंगला नवजागरण का केंद्रीय सार तत्त्व बुद्धिवाद है (राजा राममोहन राय) जबकि हिंदी नवजागरण का केंद्रीय सार तत्त्व राष्ट्रवाद है, 1857 का पहला स्वाधीनता संग्राम। महाराष्ट्र नवजागरण का केंद्रीय सारतत्त्व दलित चेतना (ज्योतिबा फुले) और सुधारवाद (रानहे) है। नवजागरण की भारतीय अंतर्धाराओं का बहुसंवायन इनके अध्ययन की काफी रोचक और चुनौतीपूर्ण बना देता है। हिंदी नवजागरण का क्षेत्र दस भारतीय राज्यों में फैला है बिहार, झारखंड, उत्तर प्रदेश, उत्तरांचल, मध्यप्रदेश, छत्तीसगढ़, दिल्ली, हरियाण, हिमाचल प्रदेश और राजस्थान। हिंदी समाज का एक ठोस हिस्सा इन राज्यों के बाहर अन्य भारतीय राज्यों और पूरी दुनिया में है, जिसके कई हिस्सों में अभी तक जागरण की कोई लहर तो दूर, पीने का पानी भी नहीं पहुँच पाया है। यहाँ यह भी कहा जाता है कि जब हिंदी जातीयता जैसी कोई चीज़ ही नहीं है तो कहाँ आया हिंदी नवजागरणसिर्फ साहित्य के पन्नों पर। इस किस्म की आवाज़ भी उठ रही है कि हिंदी भाषा, हिंदी साहित्य और हिंदी संस्कृति का प्रश्न उठा कर यहाँ की स्थानीय भाषाओं और सांस्कृतिक पहचानों को दबाया नहीं जा सकता।

रामविलास शर्मा ने जिस निराला को अपना आलोचनानायक बनाया, वे ही हिंदी नवजागरण जैसी किसी घटना से इंकार करते हैं कि “भाषा साहित्य के भीतर हमारी जाति टूटी हुई विकलांग हो रही है। बाहर से ज्यादा मजबूत परंतु भीतर उसकी पराजय के प्रमाण हैं हिंदी के मार्ग में सबसे बड़े अवरोध साबित हुए खुद हमारे शिक्षित हिंदी जन, जो सामान्यतः संकीर्णतावादी, आत्मसंकुचित और अंधपश्चिमीकरण से आक्रांत होते हैं। कुछ लोगों को हिंदी एक संकुचित चीज़ लगती है। निराला से पहले रामचंद्र शुक्ल अपने युवाकाल में ही इस स्थिति से क्षुब्ध थे, “हिंदी के लिये एक दूसरा समय आया है, पर अभी तक इधर के बहुत से नवशिक्षित लोग उसमें अपनी ठाटबाट का कोई रंग न देख उसकी सेवा से विमुख हैं” (नागरी प्रचारिणी पत्रिका, 15 मार्च 1990)। उन्होंने उन नवशिक्षितों से जो अधिक शिक्षा पाने के बाद स्वकेंद्रित और अंग्रेज़ीभक्त बन जाते हैं, वेदना भरी अपील की “अपना भाषा संबंधी अस्तित्व मत खो दो, अपने कई सहस्र वर्षों के भावों को तिलांजली मत दो” (नागरी प्रचारिणी पत्रिका, 15 मार्च 1990) साथ ही उन्होंने स्पष्ट किया कि “भाषा ही किसी जाति की सभ्यता को सबसे अलग झलकती है। यही उसके हृदय के भीतरी कलपुर्जों का पता देती है” (वही, जनवरी 1992)। भारतेन्दु हरिश्चंद्र, रामचंद्र शुक्ल, निराला जैसे साहित्यकारों के दिमाग में हिंदी की धुँधली अवधारणा थी, लेकिन हिंदी की दुर्दशा को देखकर वे मनोव्यथा से ही अधिक भरे हुए थे। हिंदी के विकास से जुड़े सच बोलने वालों ने हिंदी समाज में सदा बेगानेपन का अनुभव किया। क्योंकि कई वजह से हिंदी और विशाल-आबादी के बीच सांस्कृतिक रिश्ता कायम नहीं हो पा रहा था।

हिंदी भारत की एक विशिष्ट सामाजिक इकाई है, वह एक विशाल पट्टी में फैली है। एक विशाल भाषा होने के बावजूद क्रांतिपूर्व रूसी की तरह उसने कभी भी महत्वकांक्षी और प्रभुत्ववादी धारण नहीं किया, बल्कि वह अंग्रेज़ों के जोर-जुल्म नीति की सबसे ज्यादा शिकार हुई। वह इतनी ज्यादा दबाई गई कि हिंदी भाषा होने का अहसास पनप नहीं पाया। परंतु दूसरी बात यह है कि हिंदी परंपरा के भीतर ही विद्यापति के क्षेत्र के लोग सूर से जुड़ गये, मीरा के क्षेत्र के लोग तुलसी से जुड़ गये, कबीर के क्षेत्र के लोग सरहपा से जुड़ गये और इस तरह एक सामान्य भाषा को महसूस करने लगे। अब के विश्व जगनिक, विद्यापति, मीरा, सूर,

कबीर, तुलसी आदि की भाषा में स्कूल नहीं खुल सकते, अखबार नहीं निकल सकते, व्यापार नहीं हो सकता, यदि हो तो चल नहीं सकता। अंग्रेज़ी के बढ़ते वर्चस्व के माहौल में हिंदी को ही सब मिलकर बचा ले तो यह एक महान् उपलब्धि होगी। हिंदी एक ठोस सच्चाई है, भले ही इतिहास की मिट्टी में यह अभी अपना पूरा आकार न ले पाई हो या आधुनिकता के दंभ में हिंदी बुद्धिजीवियोंलेखकों द्वारा लगभग अलक्षित हो।

आजकल ऐसे बुद्धिजीवी भी मिल जायेंगे, जो हिंदी साहित्य की परंपरा को डेढ़ सौ साल से ज्यादा की नहीं मानते। रामविलास शर्मा हिंदी साहित्य को हिंदी भाषा से संबद्ध करते हुए हिंदी के विकास को हिंदी भाषा के विकास से जोड़ते हैं कि “जातीय भाषा के रूप में हिंदी का विकास और प्रसार हिंदी के निर्माण और उसके गठन, से, हिंदी नवजागरण के विभिन्न चरणों से घनिष्ठ रूप से संबद्ध है। भारत में अंग्रेज़ी राज की स्थापना के पहले विभिन्न प्रदेशों में तमिल, मराठी, बंगला आदि भाषाओं का गठन इतिहास की महत्वपूर्ण घटना है। इसी प्रकार हिंदी का गठन भी अंग्रेज़ी राज की स्थापना के पहले हो चुका था। इसका गठन नगरों में बाज़ार के विस्तार की प्रक्रिया में खड़ी बोली हिंदी के प्रसार के साथ शुरू हुआ था। वास्तविकता यह है कि हिंदी का विकास शुरू से ही आर्थिक-सांस्कृतिक ही नहीं, राजनीतिक अवरोधों से भी घिरा था। अंग्रेज़ी राज की वजह से ही भारत में पूँजीवाद आया, उद्योग धंधों का विकास हुआ, आधुनिकता आयी और सांस्कृतिक नवजागरण आया। नवजागरण के कई व्याख्याकारों ने बार-बार यही कहा है और उन्होंने हिंदी नवजागरण या आधुनिक काल के दो हिस्से किये हैं। एक को लोकजागरण कहा, तो दूसरे को नवजागरण। पहले हिस्से के लिये साहित्यिक साक्ष्य उपस्थित किये। जबकि दूसरे हिस्से के लिए 1847 के स्वाधीनता संग्राम के विस्तृत राजनीतिक साक्ष्य भी दिये हैं।

भारत में नवजागरण अंग्रेज़ी राज की देन है या टकराहट की या दोनों की मिली-जुली देन है, यह नवजागरण अध्याय का एक बड़ा प्रश्न है। हमारे देश के बुद्धिजीवियों का एक बड़ा समुदाय है, जो कहता आया है कि भारत के लोग अंग्रेजों से सहयोग करके ही साहित्य, संस्कृति और समाज सुधार में आगे बढ़ पाये, अन्यथा भारत काफी पिछड़ा अपरिवर्तनशील था, यदि 1847 का विद्रोह सफल हो जाता, भारत पिछड़ा ही रह जाता। आज तक बहुत सी जगहों पर कहा जाता रहा है कि इस स्वतंत्रता से अंग्रेजों का राज बड़ा अच्छा था। परंतु फिर भी केवल इस प्रतिक्रिया से अंग्रेजी राज की प्रगतिशील भूमिका के सिद्धान्त का समर्थन नहीं किया जा सकता। हमने देखा है कि ईस्ट इंडिया कंपनी के लोग किस तरह यहाँ सामंतों की तरह व्यवहार करते थे। इसको मद्देनज़र अंग्रेज़ी राज की भूमिका निर्माणात्मक नहीं, विध्वंसात्मक थी। इसने यहाँ उभरते हुए पूँजीवाद को उजाड़ा और भेदभाव बढ़ाया।

बंगला नवजागरण पर दृष्टिपात किया तो राजा राममोहन राय के चिंतन में एक विचार-धारा तो सतह पर दिखाई देती है जिससे मालूम होता है कि अंग्रेजों के आने से बंगाल का उद्धार हुआ, नई दिशा का प्रचार हुआ और लोग, विशेष रूप से जमींदार समृद्ध हुए। यह विचारधारा केवल सतह पर है। उसके नीचे दूसरी विचारधारा है जो बताती है कि अंग्रेज़ यहाँ की सारी संपदा ढो-ढोकर इंग्लैण्ड ले गये। जो पुराने रईस थे वे उस व्यवस्था से असंतुष्ट थे। साधारण लोग खासतौर से किसान बेहद उत्पीड़ित थे। शिक्षा का प्रचार नाममात्र को था, ऐसी स्थिति में लोग अंग्रेज़ी राज को उलटने के लिए प्रयत्नशील थे। राजाराम मोहन राय के जमाने में अंग्रेजी राज को उलटने के प्रयत्न की संभावना कितनी थी वह इतिहास से ज्ञात है।

भारत में अंग्रेज़ी राज ने विध्वंसक और प्रतिगामी भूमिका निभाई। अंग्रेज़ी राज कायम होने के बाद विश्व बाज़ार में भारत की स्थिति उलट गयी थी। पहले वह उस विश्व बाज़ार में माल सप्लाई करता था। अब वह विलायती माल का गोदाम बन गया। दूसरी बात यह है कि अंग्रेज़ी राज में जाति-बिरादरी की प्रथा कमजोर होने के बदले और कठोर हो गयी, व्यक्ति के नाम के साथ इसकी जाति का नाम जोड़ने का सिलसिला जितने बड़े पैमाने पर उन्नीसवीं सदी में और बीसवीं सदी में देखा गया, उतने बड़े पैमाने पर ऐसा सिलसिला भारत में कभी था ही नहीं। वर्ण का महत्त्व अधिक था, वर्ण के अंतर्गत छोटी जातियों का महत्त्व नहीं था। ऐसी स्थिति में भी अंग्रेजों को बहुत सभ्य, विकसित और निर्माणात्मक भूमिका संपन्न दिखाना भारतीय बुद्धिजीवियों की भूल है।

बुद्धिवाद नवजागरण का एक सार्वभौम तत्त्व है। सामाजिक रूपांतरण ही नहीं, बौद्धिक संघर्ष के संदर्भ में भी वह एक महत्त्वपूर्ण आधुनिक तत्त्व है। बुद्धिवाद के विकास के बिना नवजागरण का जातीय आयाम ही नहीं, दलित आयाम भी अधूरा है। बुद्धिवाद के बिना किसी भी नवजागरण को नवजागरण नहीं कहा जा सकता। अनेक संदेह के बावजूद नवजागरण की अवधारणा व्यापक तथा बहुआयामी है। नवजागरण के इस युग में भारत और पाश्चात्य संस्कृति के समन्वय का बड़ा स्पष्ट प्रशस्त रूप देखने में आया। ज्ञान विज्ञान, शिक्षा, कला और साहित्य में भारतीय और पाश्चात्य संस्कृति के समन्वित रूप को बीसवीं शताब्दी में अच्छी प्रकार से बढ़ावा मिला। इस दृष्टि से साहित्य ने सांस्कृतिक उत्थान में बड़ा योग दिया। भारतीय संस्कृति, स्वदेश प्रेम और राष्ट्रीयता के भावों की जागृत करने में अनेक साहित्यकार प्रशंसा के पात्र हैं। इतिहासकारों ने माना है कि दीनबंधु मित्र, हेमचंद्र बनर्जी, नवीनचंद्र सेन, रवीन्द्रनाथ टैगोर, बंकिमचंद्र चटर्जी, सुब्रह्ण्यम भारती, मुंशी प्रेमचंद, भारतेन्दु हरिश्चंद्र आदि ने भारतीय जनता के मस्तिष्क को प्रभावित किया। फिर भी नवजागरण का कौन पक्ष, कैसा थाइसका निर्णय गंभीर अनुसंधान, निर्दोष चिंतन और आधुनिक समाज के प्रति जिम्मेदार हुए बिना नहीं किया जा सकता क्योंकि आज समाज को नये समय के अनुसार ढालना ज़रूरी है। यद्यपि आज हम राजनीतिक रूप से स्वतंत्र हैं, परंतु स्वदेशीपन के प्रति उपेक्षाभाव किसानों और मजदूरों का शोषण, हिन्दी भाषा की बजाय अंग्रेज़ी का वर्चस्व तेज़ी से बढ़ रहा है।

### सहायक ग्रंथ-

1. हिंदी साहित्य का आधुनिक काल डॉ. श्रीनिवास शर्मा
2. आलोचना त्रैमासिक (अंकअप्रैलजून, 2001)शंभुनाथ
3. आलोचना त्रैमासिक (अंकअप्रैलजून, 2002)कर्मन्दु शिखर
4. हिंदी साहित्य युग और प्रवृत्तियाँ डॉ. शिवकुमार शर्मा
5. हिंदी साहित्य का इतिहास डॉ. नगेंद्र

सहायक प्रध्यापक, चिश्तिया कला महाविद्यालय, खुलादाबाद, जि. औरंगाबाद,  
महाराष्ट्र 431101

## आत्मकथा : अनुभूति, यथार्थ और प्रक्रिया

डॉ. आनंद सिन्दल

व्यक्ति द्वारा अनुभूत सत्य जीवन के यथार्थ को उद्घाटित करने की असाधारण क्षमता से सम्पन्न होने के कारण आत्मकथासाहित्य का अपना विशिष्ट स्थान है। आत्मकथा में जहाँ एक ओर व्यक्तिमन का अंतरंग चित्र प्राप्त होता है, जो द्वंद्व आशा, निराशा, सपने और मानवमन की अनेक गुत्थियों को लिए होता है, वहीं दूसरी ओर वह परिवेश और समष्टि जीवन के संघर्ष, सफलता, यश, अपयश का साक्षात्कार भी कराता है। आत्मकथा लेखन के मूल में मनुष्य की आत्मप्रकाशन की प्रवृत्ति कार्य करती है। जैसे तो आत्मप्रकाशन की प्रवृत्ति के कारण ही मानव स्वयं को जीवन के प्रत्येक क्रियाकलाप में कला और साहित्य में अभिव्यक्त करता ही है, किंतु आत्मकथासाहित्य का मूल विश्वास है 'न मानुषात् श्रेष्ठतर हि किंचित्' अर्थात् मनुष्य से बढ़कर कुछ भी नहीं। फलतः आत्मकथा का हर पृष्ठ मानवीय जिजीविषा, अनुभूति, चिंतन और कर्तव्य के रंग से रंगा होता है, हर शब्द मनुष्य के आह्लादविषाद और नियति को चुनौती देने वाले छोटेसेछोटे कर्म को समर्पित रहता है। चूँकि आत्मकथाकार स्वयं हृदय के हर स्पन्दन और नब्ज की हर धड़कन को निकट से महसूस करता है, चेहरे पर आतीजाती हर स्याहसफेद लकीर पर निगाह रखता है, मुट्ठियों के बँधने-खुलने तथा कदमों के उल्लसित होने या थरथराने पर दृष्टि केन्द्रित रखता है। फलतः वह बहिर्द्वन्द्व का ही चितेरा नहीं, अन्तर्जगत् में होने वाली उथलपुथल का भी साथी है। व्यक्ति जीवन के प्रति इतना प्रतिश्रुत और विश्वसनीय आत्मकथासाहित्य को छोड़कर अन्य कौन है?

आत्मकथासाहित्य अपने स्रष्टा की अग्निपरीक्षा लेता है, क्योंकि इसमें लेखक को आत्मनिरीक्षण, आत्मविश्लेषण, आत्मभिव्यक्ति, आत्मकथन के माध्यम से करनी होती है, जो अग्नि-परीक्षा से किसी भी तरह कमतर नहीं है। बंगला के अमर कथाकार शरत्चंद्र ने कविकुलागुरु रवीन्द्रनाथ ठाकुर से एक बार कहा था मैं आत्मकथा नहीं लिख सकता, क्योंकि न तो मैं इतना सत्यवादी हूँ और न इतना बहादुर ही जितना एक आत्मकथाकार को होना चाहिए। इतनी प्रमुख विश्वसनीय एवं व्यक्ति जीवन से निकटस्थ विधा के साहित्य की ओर दृष्टि डालें तो हमें निराशा ही हाथ लगती है, निराशा का मुख्य कारण हिंदी साहित्य में आत्मकथाओं की मात्रात्मक अल्पता है। इसका भी कारण स्पष्ट है कि हमारे देश में पारस्परिक रूप से अपने जीवन को बहुत महत्त्व न देने की प्रथा का प्रचलन था, आत्मप्रकाशन से अधिक आत्मगोपन का महत्त्व था। हम निजी जीवन को अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं मानते थे



‘ब्रह्म सत्यम् जगत् मिथ्या’ यह हमारी परंपरा और देश का प्राचीन प्रचलन है। इसलिए आत्मचित्रण की अपेक्षा चिंतन इस देश में महत्त्वपूर्ण रहा है। आत्मकथालेखन के अवसर पर एक अन्य जातीय संस्कार ने हमारे सर्जक की लेखनी को कुण्ठित, जड़ीभूत और अवरूद्ध किया है। इस विश्व-प्रपंच में हम जैसे व्यक्ति का अस्तित्व कितना नगण्य है। ‘पानी केरा बुदबुदा, अस मानुष की जात’ की बात कबीरदास जी ने कही है और कीन्हे प्राकृत जन गुन गान, सिर धुनि गिरा लागि पछितान’ की चेतावनी विश्व कवि तुलसीदास जी भी दे चुके हैं। अपने आप को कम-से-कम उजागर करने, अपने संबंध में काफी कृपणता बरतने और लोकदृष्टि से हमेशा ओझल बने रहने की हमारी मानसिकता ने हमारे आत्मकथासाहित्य के प्राण तत्त्व को सोख लिया। इसमें संदेह नहीं कि पत्थर पर नाम खुदवाकर अमर हो जाने की कामना भी हमारे जातीय व्यक्तित्व का अंग बन चुकी थी, फिर भी सामान्यतः संस्कारवान हिंदू की रुचि आत्मगोपन में रही। हमारा यह मानना रहा कि इस घृणित हाड़-मांस की देह की चर्चा अमंगलमय है और पाप से उद्भूत होने के कारण मानवीय अस्तित्व भी कुछ स्पृहा का विषय नहीं, अतः जितनी शीघ्रता से मृत्यु की ओर अग्रसर हुआ जाए, उतना अच्छा। हम शरीर और जीवन के प्रति धन्यवाद भाव एवं आभार भाव दिखलावे के विपरीत उसकी निंदा से संतुष्ट होते रहे। इस नारी स्थिति ने आत्मकथा-साहित्य को पनपने नहीं दिया अथवा जो कुछ छुट-पुट लिखा गया, वह न तो इतना उत्कृष्ट है न विशुद्ध आत्मकथा, महज़ उल्लेख मात्र ही है।

किंतु जैसा कि भारतेन्दु युग में साहित्य के विरोध रूपों का विविध स्तरों पर पुनरुत्थान हुआ वैसा ही ‘आत्मकथा’ का भी हुआ और पाश्चात्य प्रभाव के कारण, बदलते मूल्य एवं मान्यताओं के कारण एवं पुनर्जागरण की लहर के प्रभाव स्वरूप आत्मप्रकाशन की प्रवृत्ति आत्मकथा का रूप लेकर उपस्थित हुई और विभिन्न भारतीय प्रतिभाओं ने आत्मकथा के क्षेत्र में साहसिक लेखन कर इसे समृद्ध बनाया। वर्तमान में आत्मकथा का विधा के रूप में स्वतंत्र अस्तित्व है, जो प्राचीन मान्यताओं और परंपरा से विलग बड़े ही रोचक और स्वतंत्र रूप में मौजूद है, जिसका हिंदी के गद्य-साहित्य में विशिष्ट स्थान है। बहरहाल....

आत्मकथा शब्द ‘आत्म’ और ‘कथा’ से मिलकर बना है। ‘आत्म’ शब्द का शब्दकोशीय अर्थ अपना, निजी, स्वकीय है।<sup>1</sup> तथा ‘कथा’ का अर्थ, किस्सा, कहानी, वार्ता, चर्चा, उपन्यास, झगड़ा, वादविवाद है।<sup>2</sup> इस प्रकार ‘आत्मकथा’ शब्द का अर्थ अपनी कथा, निजी चर्चा अथवा स्वकीय वार्ता ठहरता है। आत्मकथा में आत्मकथाकार का मुख्य उद्देश्य अपने जीवन का वर्णन करना रहता है, जिसमें कथा का प्रमुख पात्र स्वयं लेखक होता है। अन्य शब्दों में ‘जब लेखक अपनी जीवनी स्वयं लिखे तो वह आत्मकथा है। आत्मकथा के लिए हिंदी में आत्मचरित या आत्मचरित्र शब्द भी प्रयुक्त होते हैं।’<sup>3</sup> हिंदी साहित्य कोश में लिखा है “आत्मचरित और आत्मचरित्र हिंदी में आत्मकथा के अर्थ में प्रस्तुत प्रारंभिक शब्द हैं और तत्त्वतः आत्मकथा से भिन्न नहीं हैं।”<sup>4</sup> आगे चलकर वे आत्मचरित और आत्मकथा में एक सूक्ष्म अंतर बतलाया है “आत्मचरित कहलाने वाली रचना किंचित् विश्लेषणात्मक और विवेक प्रधान होती है और आत्मकथा कही जाने वाली कृति अपेक्षा अधिक रोचक और सुपाठ्य होती है।”<sup>5</sup> किंतु इस सूक्ष्म अंतर की कल्पना करके आत्मचरित और आत्मकथा को अलग करना उचित प्रतीत नहीं होता। बहुधा आत्मकथा विश्लेषणपरक और विवेक प्रधान होने के साथ रोचक और सुपाठ्य भी होती है। यह तो लेखक विशेष पर निर्भर करता है कि

वह अपनी आत्मकथा को विश्लेषणात्मकता से बोझिल कर दे या विश्लेषणात्मकता के साथसाथ रोचकता का भी समावेश करे। आत्मकथा के रोचक होने के कई कारण हो सकते हैं। मानविकी पारिभाषिक कोश (साहित्य खण्ड) में कहा गया है आत्मकथा या इस प्रकार की अन्य रचनाओं के आकर्षण के कई कारण हैं

1. किन्हीं ऐतिहासिक घटनाओं या आन्दोलनों से यदि लेखक का सम्पर्क रहा हो तो उसका विवरण बाद की पीढ़ियों के लिए रोचक और उपयोगी होता है क्योंकि उससे तत्कालीन मनोवृत्ति का कुछ सही अनुमान, सुलभ हो पाता है।
2. हो सकता है कि स्वयं लेखक का ही इतिहास निर्माण में महत्त्वपूर्ण योगदान रहा हो? विख्यात विजेता, शासक, राजनीतिज्ञ अथवा चिंतक के विचारों का अपने तथा अन्य व्यक्तियों और घटनाओं के विषय में उसके मतामत का सदा महत्त्व रहता है।
3. लेखक के दृष्टिकोण या विचारों में कुछ विशेषता या अनूठापन हो अथवा वह अपने युग से आगे की बात सोचने वाला हो।
4. लेखक ऐसा व्यक्ति हो जिसके जीवन का मुख्य कार्य आत्मंथन और चिंतन ही रहा हो।<sup>6</sup> इन सभी कारणों से आत्मकथा में रोचकता बढ़ जाती है।

डॉ. माज़दा असद ने लिखा है “स्वयं लिखी अपनी जीवनी आत्मकथा कहलाती है। इसे दूसरे शब्दों में इस प्रकार कहा जा सकता है जब कोई व्यक्ति कलात्मक, साहित्यिक ढंग से अपनी जीवनी स्वयं लिखता है तब उसे आत्मकथा कहते हैं।”<sup>7</sup> आत्मकथा लेखक अपने जीवन में बीती घटनाओं का क्रमिक ढंग से वर्णन कर, उन्हें सजीवता प्रदान करता है। ऐसा करने से उसके (आत्मकथाकार) जीवन में प्रेरणा देने वाले उपादानों का भी पता चलता है और उसके जीवन की बाह्य एवं आंतरिक परिस्थितियों का भी यथार्थ चित्र उपस्थित होता है। आत्मकथा में अतीत के जीवन का चित्रण तो होता ही है, साथ ही उसके पूरे परिवेश की अभिव्यक्ति भी उसमें होती है। जो क्षण वह जी चुका है, उनका पुनः सृजन वह आत्मकथा के माध्यम से करता है। यहाँ लेखक स्रष्टा भी होता है और सामग्री भी। उसे साध्य और साधन दोनों कहा जा सकता है। वह स्वयं विषय भी है और उस विषय को अभिव्यक्ति देने वाला भी। ऐसी हालत में कभी सर्जक कथ्य पर हावी हो जाता है और कभी कथ्य सर्जक पर।

वास्तव में आत्मकथा के अंतर्गत वैयक्तिक जीवन का प्रकाशन होता है अर्थात् जिएभोगे जीवन का सत्य जो स्वयं का होने के कारण बिल्कुल निजी, अपना और स्वकीय है, किंतु इस यथार्थ को लिपिबद्ध करते समय लेखक आत्मप्रशंसा में न रमने लगे इसलिए इससे इस यथार्थ वर्णन में आत्मश्लाघा से बचने की आशा की जाती है। अत्यधिक आत्मप्रशंसा करने से आत्मकथा निम्न कोटि की समझी जाने लगती है। आत्मकथा में लेखक अपने बीते हुए जीवन का सिंहावलोकन और एक व्यापक पृष्ठभूमि में अपने जीवन का महत्त्व प्रतिष्ठापित करता है। वह अपने परिवेश के साथ पूरी जीवन्तता से जुड़ा होता है। आत्मकथा में लेखक जो शैली अपनाता है, उसमें उसका दृष्टिकोण विषयीपरक होता है। उसे अपने को अपने दर्पण के सामने रखना पड़ता है। उसका दायित्व हो जाता है कि वह अपने विषय में जो कुछ भी लिखे, वह सर्वथा निष्पक्ष भाव से लिखा होना चाहिए, क्योंकि तनिक भी पक्षपात होने से उसमें आत्मश्लाघा की गंध आने लगती है। प्रकृति से विषयीगत होते हुए भी विषय की उपेक्षा वहाँ नहीं रह सकती, कारण कि इसमें ‘विषयी’ और ‘विषय’ अभिन्न होते हैं।

प्रकारांतर से कहा जा चुका है कि आत्मकथा गद्य साहित्य का वह रूप है, जिसमें किसी

विशेष व्यक्ति का जीवन वृत्तांत उसी के द्वारा लिखा जाता है। मानवस्वभाव की आत्मप्रकाशन की भावना आत्मकथा की प्रेरक शक्ति है। जब कोई व्यक्ति अपने गुणों और कार्यों में अनुकरणीय विलक्षण गुणों और असाधारण विशेषताओं को देखता है, तब वह दूसरों के निरीक्षण और अनुकरण के उद्देश्य से उन्हें व्यक्त करने के लिए अपनी जीवनी स्वयं लिखता है। आत्मकथा में देशकाल का निरूपण होता है और यह निर्विवाद सत्य है कि व्यक्ति का जीवन सामयिक और स्थानीय प्रभावों के मध्य ही विकसित होता है। फलतः देशकाल की परिस्थितियों से उद्भूत आन्दोलनों का वर्णन भी आत्मकथा में हमें प्राप्त होता है। जो व्यक्ति जीवन के साथसाथ तत्कालीन, सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक परिस्थितियों एवं अपने सहयोगियों और विरोधियों के बारे में भी विश्लेषणात्मक और प्रामाणिक विवेचना प्रस्तुत करता है, किंतु इस विवेचन में व्यक्ति का 'आत्म' अथवा 'स्व' ही प्रबल रहता है।

जैसा कि हम प्रारंभ में कह आए हैं कि 'आत्मकथा' शब्द 'आत्म' और 'कथा' दो शब्दों से मिलकर बना है। इसलिए 'आत्मतत्त्व' के पश्चात् आत्मकथा का दूसरा प्रमुख तत्त्व 'कथातत्त्व' है। चूँकि आत्मकथा में व्यक्ति का जीवन ही प्रतिफलित होता है और जीवन जन्म से लेकर मृत्यु तक की क्रमिक यात्रा है आत्मकथा इस क्रमिक यात्रा की ही कहानी है। जिस प्रकार जन्म और मृत्यु की परिधि में बँधे जीवन का प्रारंभ और अंत रहता है उसी तरह आत्मकथा भी आरंभ और परिसमाप्ति के बीच निबद्ध रहती है, किंतु जिस तरह जीवन का किसी भी समय पटाक्षेप हो जाता है और जीवन की गतिविधियाँ अपूर्ण रह जाती हैं, उसी तरह से आत्मकथा भी जीवन के एक आयाम या पड़ाव तक का ही लेखाजोखा प्रस्तुत करती है। आत्मकथा पूरी करने के बाद यदि आत्मकथाकार कुछ वर्ष जीवित भी रहता है तो उन वर्षों का विवरण हमें आत्मकथा में नहीं मिल पाता। संभवतः इस अपूर्णता को लक्ष्य करके इन महोदय ने आत्मकथा को 'टॉरसो' कहा है जिसका अर्थ है 'सिर, हाथ और पाँव विहीन धड़'।<sup>8</sup> इससे यह बात स्पष्ट होती है कि आत्मकथा कथा होते हुए भी सामान्य कथा से भिन्न है। सामान्य कथा कल्पित होने के कारण प्रारंभ, विकास और अंत की दृष्टि से सुनियोजित तथा व्यवस्थित होती है, जबकि आत्मकथा जीवन की अनुकृति होने के कारण अनियोजित और अपूर्ण होती है। इस प्रकार आत्मकथा को कथा के प्रकारों में 'अपूर्ण कथा' भी कहा जा सकता है इसका कारण यह है कि कोई भी व्यक्ति अपनी मृत्यु के पश्चात् तो अपनी जीवन-कथा लिख नहीं सकता और जीवित रहकर लिखते हुए जीवन का बहुत अधिक नहीं तो थोड़ा अंश तो शेष रह ही जाता है। जिसके फलस्वरूप आत्मकथा किसी कथा साहित्य की तरह सुनियोजित अंत को उपलब्ध नहीं होती। फिर भी आत्मकथा में कथा साहित्य के पारम्परिक छः तत्त्व कथावस्तु, चरित्रचित्रण, कथोपकथन, भाषाशैली, वातावरण और उद्देश्य पाए जाते हैं। इन कथा तत्त्वों के साथ ही आत्मतत्त्व के रूप में वैयक्तिकता, आत्मोद्घाटन, आत्मविश्लेषण और आत्मगोपन आदि तत्त्व भी आत्मकथा में प्रमुखता से पाए जाते हैं। अंततः अपने जिए हुए इतिहास का वह बहुत निथरा हुआ, मार्मिक और विश्लेषणपरक सिंहावलोकन है। इस तरह आत्मकथा एक सोचे-समझे व्यक्तिगत इतिहास के रूप में, किसी के जीवन को कोई खास अर्थ प्रदान करने की पद्धति है। निष्कर्षतः आत्मकथा जीवन की सार्थकता की चाह और खोज का साहित्यिक रूप है।

#### **संदर्भ-**

1. (सं.) पं. रामचंद्र पाठक, आदर्श हिंदी शब्दकोश, पृ. 71

2. वही, पृ. 121
3. डॉ. श्याम सुंदर घोष, साहित्य के नये रूप, पृ. 15
4. धीरेन्द्र वर्मा, हिंदी साहित्य कोश, पृ. 77
5. वही, पृ. 77-78
6. (प्रधान संपादक) डॉ. नगेन्द्र, मानविकी पारिभाषिक कोष (साहित्य खण्ड), पृ. 45
7. डॉ. माज़दा असद, गद्य की नयी विधाएँ, पृ. 18-19
8. The true autobiography, however, is but a tarso- English Biography : By Mr. W.H. Dunn, p. 200

104, अरविंद नगर, उज्जैन (म.प्र.)

## प्रचारित साहित्य

- डॉ. श्यौराज सिंह बेचैन- चिन्तन की परम्परा और दलित साहित्य 495/-
- डॉ. जोगिंद कुमार- दलित चेतना के सन्दर्भ में कथाकार ओमप्रकाश 495/-
- डॉ. श्यौराज सिंह/रजतरानी- दलित दखल 300/-
- डॉ. गौतम सोन कांबले, 20वीं शताब्दी के अन्तिम दशक की हिन्दी कहानी में दलित जीवन 395/-
- डॉ. ललिता कौशल-हिन्दी दलित साहित्य और चिन्तन 195/-
- दत्तात्रय मुरूपकर-पिंजरे की परिधि से बाहर का आत्मकथा 195/-
- डॉ. साताप्ता शामराव सावंत-शिवानी के लघु उपन्यासों में प्रतिबिंबित समाज 200/-
- डॉ. ठाकुर विजय सिंह-अज्ञेय के प्रतिनिधि कहानियों में नारी 200/-
- डॉ. रघुनाथ गणपति-हिन्दी मराठी महिला नाट्य लेखन में नारी 300/-
- डॉ. शोभा यशवंत- मैत्रेयी पुष्पा के कथा साहित्य में नारी जीवन 370/-
- डॉ. हेमलता सुखदेव-महिला उपन्यासकारों के उपन्यासों में पुरुष चरित्र 395/-
- माधुरी सोनटक्के-महिला उपन्यासकारों की रचनाओं में चेतना के प्रवाह 375/-
- डॉ. एन. सिंह-दलित साहित्य परम्परा ओर विन्यास 495/-
- डॉ. सरोज पगारे-हिन्दी दलित साहित्य आन्दोलन 375/-
- डॉ. सानप शाम-ममता कालिया के कथा साहित्य में नारी चेतना 400/-
- डॉ. रमा नवले-मृदुला गर्ग के कथा साहित्य में नारी 550/-

## वाङ्मय बुक्स अलीगढ़

205- ओहद रेजीडेंसी, नियर पान वाली कोठी, दोदपुर रोड, सिविल लाइन, अलीगढ़-202002

मोबाइल : 9044918670/9719304668

## धरती धन न अपना उपन्यास में दलित चेतना

प्रा. गोविंद कुमार वेकरीया

पिछले कुछ वर्षों से हिंदी में 'दलित साहित्य' का स्वर काफी ऊँचा रहा है। सामान्यतः 'दलित' शब्द एक जाति विशेष के लिए रूढ़ हो गया है, जिसका संबंध निम्न जाति के लोगों से अधिक रहा है। 'दलित' शब्द प्रयुक्त हुआ है। किंतु धीरे-धीरे इसका अर्थ और भी व्यापक हो गया है और एक नया अर्थ सामने आ रहा है 'दलित' अर्थात् जिसका दमन हुआ है, जिसे दबाया गया है, जो हमेशा से ही उपेक्षित रहा है, जिसे सताया गया है, उत्पीड़न किया गया है, जिसके स्वतंत्र अस्तित्व को उसके अधिकारों से वंचित रखा गया है, जो सर्वहारा हो गया है। डॉ. विनय पाठक के शब्दों में कहे तो "आज हम जिस दलित की बात करते हैं, उसका अर्थ विस्तार हो गया है। अब वह केवल अछूत व अस्पृश्य तक सीमित नहीं है, उसमें सभी जाति, धर्म व वर्ण के दबे, कुचले, शोषित, पीड़ित, छूतअछूत सभी का समावेश हो गया है।" इस दृष्टि से देखा जाए तो केवल सामाजिक रूप से बहिष्कृत या अछूत जाति विशेष के लोग ही नहीं बल्कि श्रमिक, वर्ग, खेत मजदूर, दुःखीपीड़ित जनता आदि सभी का समावेश इसके अंतर्गत हो जाता है और इनको केंद्र में रखकर रचे गए साहित्य को हम 'दलित साहित्य' कह सकते हैं।

'धरती धन न अपना' आधुनिक प्रगतिशील लेखक जगदीशचंद्र की प्रथम रचना है। 'रचना' शब्द का प्रयोग यहां साभिप्राय हुआ है। "कृति अपनी समस्त संश्लिष्टता एवं समग्रता के लिए हुए 'फस्ट हैंड' जीवनानुभावों की यात्रा व यंत्रणा से गुजरती हुई रचनाधर्मिता का निर्वाह पूरी ईमानदारी से करती है।" अतः प्रथम होते हुए भी इसे हिंदी के सफल व सार्थक उपन्यासों में परिगणित किया जा सकता है। एक साहित्यिक के अंतस् की पीड़ा यहाँ प्रेरणा बनकर यथार्थवादी कला के मूल्यों को उकेरती हुई दिखाई पड़ती है। इसमें लेखक ने पंजाब के एक छोटे गांव 'घोड़ेवाहा' को केन्द्र में रखकर सदियों से प्रताड़ित साधनहीन, पराश्रित, भाग्यवादी, अनपढ़ चमार जाति का ऐसा अंतरंग चित्रण किया है कि वह भारत के करोड़ों हरिजनों के जीवन का सच्चा दस्तावेज बन पड़ा है। वैसे 'जल टूटता हुआ', 'अलगअलग वैतरणी', 'सूखता हुआ तालाब' आदि उपन्यासों में उनके दिनहीन परावलम्बित (निरंतर अपमानित) जीवन के कतिपय पहलुओं को उजागर किया गया है, किंतु प्रस्तुत उपन्यास में लेखक की दृष्टि सम्पूर्णयता केवल उन्हीं को केंद्रस्थ रखने में नियोजित हुई है। उनकी और केवल उनकी समस्याओं को लेकर लिखा गया हिंदी का यह प्रथम उपन्यास है।

इस उपन्यास में लेखक ने बखूबी हरिजनों पर होने वाले अत्याचार, अपमान और उनकी आर्थिक विपन्नता की संतापत्रयी को गहराई से उभारा है। उपन्यास के तीसरे परिच्छेद में

ही चौधरी हरनाम सिंह के द्वारा सन्तु और जीतू को बुरी तरह से पीटने की घटना दी गयी है। स्वयं लेखक के शब्दों में “चमादड़ी में ऐसी घटना कोई नयी बात नहीं थी। ऐसा अक्सर होता रहता था। जब किसी चौधरी की फसल चोरी के कट जाती थी या बर्बाद हो जाती या चमार चौधरी के काम पर न जाता या फिर किसी चौधरी के अंदर जमीन की मिल्कियत का अहसास जो पकड़ लेता है वह अपनी साख बनाने और चौधरी मनवाने के लिए इस मुहल्ले में चला आता।”<sup>22</sup> यहां किसी भी व्यक्ति को पीटने के कारणों में उसका चमार होना ही पर्याप्त माना जाता है। इस जाति को सदियों से इतना दबाया गया है कि उसकी प्राण शक्ति ही खत्म हो गयी है और जानवर से बेहतर वह अपने को कभी नहीं समझती। इतने लोगों के बीच हरनाम सिंह बिना कारण लोगों को जुतियाता है और कोई उफ तक नहीं कहता।

वर्षा के दिनों में ‘चौ’ (नालो) में आये बाढ़ के पानी के कारण जब बाबा फतु का घर गिरने की स्थिति में आ जाता है, तब चौधरी लोग मौन रहते हैं। पर वृक्ष के गिरने से पानी का बहाव जब गांव की ओर होने लगता है तब मारे डर के लालू पहलवान के सुझाव पर ‘चौधरी’ के सामने वाला बांध तोड़ दिया जाता है। मकाई के खेतों को नुकसान होता है। पर गांव बच जाता है। बांध को जहां तोड़ा गया था वहां एक छेद (शगाफ़) हो गया था। उसे पूरने के लिये चमादड़ी के सभी चमारों को लगाया जाता है। प्रारंभ में मजदूरी की आशा में उन्हें प्रसन्नता होती है, परंतु दो-तीन दिन तक जब कोई बात नहीं निकलती तब वे परस्पर लड़ते-झगड़ते हैं पर चौधरी को कहने का साहस उन्हें नहीं होता। आखिर काली, जीतू जैसे कुछ युवक जैसे काम बन्द करते हैं तब दूसरों में चेतना का संचार होता है। पूरे गांव का काम था, अतः उन्हें काम की मजदूरी मिलनी चाहिए। बिना मजदूरी वे कईकई दिनों तक बेगार कैसे कर सकते हैं? इस पर गांव के चौधरी उन्हें बायकाट करते हैं। गांव की नाकाबन्दी होती है। कुदरती हाजत तक के लिए उन्हें खेतों में नहीं जाने दिया जाता। शनैः शनैः सबके हौसले पस्त होते जाते हैं। काली बहुत चिन्तित है। डॉ. बिशनदास और कामरेड टहल सिंह से उसे उम्मीद थी, पर वे सब बातों के बड़े पकाते हैं। वे उनके विद्रोह में मार्क्सवादी इन्कलाब देखकर प्रसन्न होते हैं। क्रान्ति और समाजवाद की बात करते हैं, पर उनकी यातनाओं से उन्हें कोई सरोकार नहीं। चौधरियों का बड़ा नुकसान हो रहा था, अतः आंशिक रूप से चमारों की बात मान ली जाती है और दोनों में समझौता हो जाता है। तब उन तथाकथित कामरेडों को बड़ा दुःख होता है।

सदियों से इस जाति की चेतना हर ली गयी है अतः उनके मानअपमान का कोई सवाल ही पैदा नहीं होता। बातबात में उन्हें ‘साला कुत्ता चमार’ कहा जाता है। ‘चमादड़ी’ का ‘चकरौटी’ शब्द ही अपमान का तिक्तता को व्यंजित करने वाला है। मंगू हरनाम सिंह का मुंहलगा है। एक बार वह हरनाम सिंह और छज्जू शाह की बातचीत में कुछ कहने जाता है। काली वहाँ उपस्थित था। अतः जानबूझकर हरनाम सिंह मंगू को डांटते हुए कहता है “कुत्ते की औलाद, चुप बैठ। कुत्ता चमार अपने आपको बड़ा पंच समझता है।”<sup>23</sup> काली की उपस्थिति में ही छज्जू शाह के मुंह से भी एक बार निकल जाता है “अगर सरदार और चौधरी लोग खर्च नहीं करेंगे तो क्या कुम्हार और कहार करेंगे।”<sup>24</sup> अपमान की तिक्तता को उस समय बढ़ जाती है, जब संत सिंह जो काली का मकान बनाने आया है, कहता है “मुझे नंद सिंह ने बताया था कि काली और निक्कू में झगड़ा हो गया है। उस समय मुझे समझ में नहीं आया कि तेरा नाम ही काली है। सच्ची बात पूछो तो गांव में कुत्तों और चमारों की पहचान रखना मुश्किल है। आते-जाते रहते हैं ना।”<sup>25</sup> कितना करारा व्यंग्य था काली पर। शहर से काली का मनीआर्डर आता है। मुंशी अस्सी के स्थान पर सवा उन्नासी देने लगता

है। काली उससे तर्क करता है तब मुंशी पूरे पैसे देता है। काली के कहने पर कि आप वैसे बारह आना रख लें लेकिन कायदा यही है। तब मुंशी उसका अपमान करते हुए कहता है “अगर मुझे हाथ फैलाना होगा तो किसी महाजन या चौधरी के आगे फैलाऊंगा, चमार के आगे नहीं फैलाऊंगा।”<sup>6</sup> गाली-गलौच ही नहीं चमारों की बहन-बेटियों की इज्जत से खेलना चौधरियों के लिए बायें हाथ का खेल है। चौधरी हरनाम सिंह का भतीजा हरदेव मंगू की सहायता से प्रीतों की अविवाहिता जवान लड़की लच्छों की लाज दिन-दहाड़े लूटता है। हरनाम सिंह भी अपनी जवानी में प्रीतों से जुड़ा था। समस्या का पहलू यह भी है कि मंगू जैसे लोग चौधरियों की कुल्हाड़ी के हाथ बने हुए हैं। मंगू इतना बगैरत हो गया है कि उसके सामने उसकी बहन ज्ञानों की छातियों की तुलना कच्चे खरबूजे से की जाती और वह चुप रहता है।

निम्न जाति के लोगों के ईसाई हो जाने की समस्या को लेखक ने बड़े संजीदा ढंग से प्रस्तुत किया है। नंद सिंह पहले सिख और बाद में ईसाई हो जाते हैं। उसे ‘चमार’ शब्द से नफरत है पर लोग फिर भी उसे ‘चमार’ ही कहते हैं। संत सिंह के अनुसार “सिख बन जाने का यह मतलब तो नहीं कि वह चमार नहीं रहा। धर्म बदलने से जात तो नहीं बदल जाती।”<sup>7</sup> इस संदर्भ में लेखक की एक वक्रोक्ति उल्लेखनीय है। नंद सिंह काली से अपनी ईसाई होने का लाभ गिनात हुए कहता है कि सबसे बड़ा फायदा यह हुआ की अब हम चमार नहीं रहे हैं। इतने में ही चौधरी मुंशी कहीं से आकर धमकाता है और नंद सिंह को गाली देते हुए कहता है “चमार तूने क्या भांग पी रखी है?”<sup>8</sup> और उन सबके मूल में है उनकी आर्थिक विपन्नता। लेखक अर्थशास्त्र के छात्र रह चुके हैं, अतः सामाजिक दुरावस्था के पीछे छिपे आर्थिक कारणों का विश्लेषण उन्होंने बड़े सुंदर ढंग से किया है। लेखकीय व्यक्तव्य के अनुसार दूध, चाय और लस्सी जैसी चीजों के लिये लोग तरस जाते हैं। काली इसलिए सम्पन्न माना जाता है कि वह शक्कर पीता है और गेहूं की रोटी खाता है। छज्जू शाह भी उसकी इज्जत करता है। हरनाम सिंह भी दूसरे चमारों-सा व्यवहार उससे नहीं कर पाता। मिट्टी के गारों से पकी ईंटों का बनाया गया मकान उसके सपनों की चरम सीमा है। काली भी इसीलिए पक्का मकान बनाने का विचार करता है। ज्यादा पैसे ही नहीं, अतः आगे का कुछ हिस्सा बनवा लेता है। प्रतापी चाची इसी मेहनत में दम तोड़ देती है। यहाँ लेखक ने उसके अंध विश्वासों का भी कुछ संकेत दिया है। चाची के मृत्यु के बाद रहे-सहे पैसे चोरी हो जाते हैं और काली की अन्य लोगों की तरह खेत-मजदूर हो जाता है। छज्जू शाह ठीक ही कहता है कि “चमार की खुशहाली उसकी जवानी की तरह चार दिन की ही रहती है।”<sup>9</sup>

प्रस्तुत उपन्यास का महत्त्व इसमें नहीं की वह हरिजनों से संबंधित तथातथ्य घटनाओं को संकलित करता है। वस्तुतः यथार्थवादी कलाकार अपने अनुभवों के मृत्तिका पिण्ड के एक सार्थक कलाकृति का निर्माण करता है।

#### संदर्भ-

1. जगदीशचन्द्र, धरती धन न अपना, पृ. 7-8
2. वही, पृ. 27
3. वही, पृ. 47
4. वही, पृ. 58
5. वही, पृ. 109
6. वही, पृ. 167
7. वही, पृ. 157
8. वही, पृ. 163
9. वही, पृ. 229

## रामदरश मिश्र के उपन्यासों में लोकगीत

प्रा. वसावा आनंदभाई दामजीभाई

‘लोकगीत’ शब्द का अर्थ है- ‘लोक में प्रचलित गीत’। लोकगीत भारतीय संस्कृति के परिचायक रहे हैं। वे आत्मा से फूट पड़ने वाले हर्ष, उल्लास, सुख-दुःख, व्यथा-पीड़ा आदि के स्रोत हैं जो यथासमय गाए जाते हैं। सुरेन्द्र प्रसाद यादव ने लोकगीतों के संदर्भ में लिखा है-“लोकगीतों में लोकजीवन स्पंदित होता है। उसका समूचा अंतर्वैभव इन गीतों के रूप में प्रस्फुटित होता है। परंपरा के रूप में जाए जाने वाले ये गीत जिनके स्वायिताओं का कोई उल्लेख नहीं है, कभी-कभी इनके गायकों के व्यक्तित्व के साथ घुल-मिलकर एकमेव हो जाते हैं।”<sup>1</sup>

लोकगीतों में लोकवार्ता का तत्त्व अंतर्भूत रहता है। इससे भौगोलिक सामग्री का ज्ञान प्राप्त हो जाता है। लोग इन्हें गाकर मनोरंजन भी करते हैं। मनोरंजन तथा अभावों से भरे लोकगीतों से धर्म और संस्कृति के विविध आयाम खुल जाते हैं। लोकगीतों को विविध प्रकार के अनुष्ठानों, उत्सवों, पर्वों, संस्कारों के अवसर पर गाकर अपनी परंपरागत रूढ़ि मान्यताओं को प्रदर्शित करते हैं। बदलती हुई ऋतुओं के अनुसार गीत गाए जाते हैं। जिनमें प्रकृति की बदलती हुई घटनाओं को सामाजिक जीवन के साथ जोड़ा जाता है। इसमें मनुष्य के कर्म और गतियों का संबंध जुड़ा हुआ रहता है। ऐसे गीत खेतों में काम करते समय गाए जाते हैं। ये छोटे हो या बड़े किंतु इनसे आत्मा की अभिव्यक्ति प्रकट होती है, इसलिए इनका महत्त्व साहित्य में रहा है।

लोकगीतों में ग्रामीण संस्कृति के सभी आयामों के दर्शन होते हैं। क्योंकि ग्रामीण संस्कृति में ये अभी सुरक्षित रहे हैं। इनसे उसकी पहचान होती है। नगरी संस्कृति में इनका अभाव है। अतः हम कह सकते हैं कि भारतीय संस्कृति का और इसमें अंतर्भूत रूढ़ि एवं परम्पराओं के स्रोत का निर्बल निर्रर लोकगीतों के ज़रिए बहता रहा है। उसे बहते रहने में ग्रामीण संस्कृति का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है।

रामदरश मिश्र ने अपने कथा साहित्य में ग्रामीण लोगों के जीवन में लोकगीतों का स्थान, असर और संबंधों का चित्रण इस तरह किया है

### फाग के गीत

होली के समय उन्माद में फाग के गीतों से गाँव के सिवान गूँज उठते हैं। ‘पानी के प्राचीर’ उपन्यास में फसलें पक जाने पर गाँव की उदास जिंदगी में उत्साह आ जाता है और



लोग खुशियों से झूम उठते हैं, होली की मस्ती में नाचते-नाचते फाग के गीत गाते हैं—“डम्पर मटाक घिना/डम्पर मटाक घिना/सदा आनंद रहे एहि दारे/जीए खेल फाग रे।”

फागुन के महीने में गाँव और सिवान फाग के गीतों और खुशियों से फगमय बनते हैं। ‘सुखता हुआ तालाब’ उपन्यास के देव प्रकाश सुबह-सुबह खेत गए। फागुन का महीना था। पीली-पीली धूप फसलों पर फैली थी। पत्रहीन समेल के फूल अंगारों की तरह दिखाई देते थे। आम के बौर की गंध वातावरण में फैल गई थी। देव प्रकाश अपने गाँव की राजनीति के बारे में सोचते हुए खेतों में घूम रहे थे, उस समय कोयल कूकने लगी, सुनकर उन्हें थोड़ी-सी तसल्ली हुई। वे झूम उठे और वे काम का पुराना गीत गुनगुनाने लगे—“पिऊ-पिऊ बोले पपिहरा/बनवाँ बोले मोर/बगिया में बोले कोइलिया/सेजियाँ सैयातोर/आवत के डर लागे।”<sup>3</sup>

फागुन महीने में उसके उन्माद से युवक-युवतियाँ ही नहीं तो बुजुर्ग भी गाते हैं, इसे यहाँ दिखाया है।

‘बिना दरवाजे का मकान’ उपन्यास में फागुन महीने की शाम को दीपा स्कूल से आ रही थी। फागुन महीने का सुहावना वातावरण था। वह अरहा के खेतों से आ रही थी, तब कोयल कूक उठी। दीपा ने उसे चिढ़ाया वह उड़कर चली गई। फागुन की हवा उसके बालों को उड़ा रही थी, उसके स्पर्श से वह उत्साहित होकर चलते-चलते गाने लगी— “मेरी ऊँची अटरिया पे कामा बोले/मेरा जिया डोले/कोई आ रहा है/कोई जा रहा है।”<sup>4</sup>

फागुन के समय वातावरण में खोकर दीपा अनजाने में ही इस प्रकार गीत गाती है। ‘थकी हुई सोबह’ उपन्यास की लक्ष्मी अपने खेत में घूम रही थी। फागुन महीने के कारण प्रकृति में उन्माद छाया हुआ था। एक युवक हर्ष विभोर होकर फाग की कड़ियाँ गुनगुनाते हुए चला गया—“आइ गइल जुलमी महिनवाँ/घरे नाही अइले सजनवाँ/देहियाँ भइलिबा फगुनवाँ/घरे नाही अइले सजनवाँ।”<sup>5</sup>

गीत सुनकर लक्ष्मी अपने को भूल गई और होने वाले पति के बारे में सोचने लगी।

### थकावट तथा श्रमपरिवार के लिए लोकगीत

देहातों में लोग फसले अच्छी आने पर कड़ी मेहनत करते हैं। काम से थक जाते हैं तब थकावट दूर करने के लिए गीत हैं।

‘पानी के प्राचीर’ उपन्यास में फसलें अच्छी आई थी, किसान, मजदूर खेतों में काम कर रहे थे। वे अपने-अपने काम में व्यस्त थे। स्त्रियाँ थकावट दूर करने के लिए एक-दूसरी की छेड़खानी कर गीत गाती हैं—“रामा नाही पिया अइले कुहार में/आरे सावलियाँ/सब सखियाँ मिल झूला-झूले/हम बैठी अपने ओसार में/आरे सावलियाँ/रोई-रोई काटहु बैरी बरखवा/तोर पिया अई हैं कुवार में/आरे साँवलियाँ।”<sup>6</sup>

खेतों में काम करने वाली स्त्रियाँ थकावट दूर करने के लिए इस प्रकार के गीत गाती हैं। ‘अपने लोग’ उपन्यास में गरीब किसान तथा मजदूरों को देहातों में काम न मिलने से काम की तलाश में गोरखपुर चले जाते हैं। दिन भर वह मजदूरी या छोटे-मोटे काम कर शाम होने पर मजदूरी के पैसों से आवश्यक चीजें खरीदकर अपने-अपने गाँव जाते हैं। दिन भर के परिश्रम से थक जाने से रास्ते में थकावट महसूस न हो, इसलिए गीत गुनगुनाते हैं या एक-दूसरे को गीत गाने के लिए कहते हैं। उनमें से एक ने दूसरे से कहा— “अबे वो लड़इया

की दुम, कुछ रसीला गाना सुना न, दिन भर तो हम लड़इया करते है। ससुरे शाम को भी लड़इयेवोड़इये होगी। शाम तो अपनी है न रे, उसके लायक कोई गाना न। अरे वही गा, पूरब देसवा से। हाँ रे हाँ, वही गा। सबने समर्थन किया। उसने एक बार गला साफ किया और अलाप उठा “पूरब देसवा से आइला एक बंगलिनिया/जदुआ डारि गइल हमरे हरी पर ....।”<sup>77</sup>

ग्रामीण लोग अपने हर्ष, उल्लास, मस्ती की तरह दुःख व्यथा और पीड़ाओं को लोकगीतों के माध्यम से व्यक्त करते है।

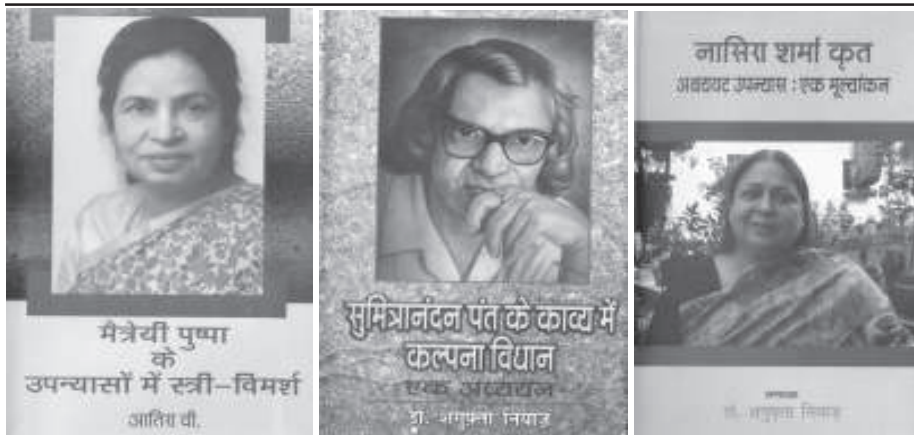
वस्तुतः मिश्रजी के कथा साहित्य में चित्रित लोकगीतों का अध्ययन करने पर महसूस होता है कि ये गीत ग्रामीण संस्कृति की विरासत है। वे माधुर्य से ओत-प्रोत हैं और उनमें लोक संस्कृति की गरिमा सजीवता से अंकित हुई है। लोकगीतों में ऋतुओं के चित्रण के साथ-साथ प्रकृति की विविध छटाओं के मनोहरी, सजीव सुंदर एवं व्यापक चित्र प्रस्तुत किए गए है। आधुनिक सभ्यता से लोकगीत लुप्त हो रहे हैं, किंतु कुछ हद तक वे गँवई संस्कृति में अब भी सुरक्षित रहे हैं।

लोकगीत ग्रामीण संस्कृति की महत्त्वपूर्ण देन है। उनमें लोगों के सुख-दुःख, राग-विराग, ग्रामीण संस्कृति के रीति-रिवाज, परम्पराएँ, सभ्यता आदि के दर्शन सहजता से होते हैं। मिश्र ने ग्राम्य जीवन शैली में जीवन व्यतीत किया है। अतः उनके कथा साहित्य ग्राम्य संस्कृति का चित्रण यथार्थ रूप में चित्रण हुआ है।

### संदर्भ सूची-

1. सुरेन्द्र प्रताप यादव, स्वतंत्र्योत्तर हिंदी उपन्यास में ग्रामीण यथार्थ और समाजवादी चेतना, पृ. 135
2. रामदरश मिश्र, पानी के प्रचीर, पृ. 18
3. रामदरश मिश्र, सूखता हुआ तालाब, पृ. 94-95
4. रामदरश मिश्र, बिना दरवाजे का मकान, पृ. 75
5. रामदरश मिश्र, थकी हुई सुबह, पृ. 25
7. रामदरश मिश्र, अपने लोग, पृ. 187

व्याख्याता सहायक, सरकारी विनयन एवम वाणिज्य कॉलेज, आहवाडांग



## निराला के काव्य में यथार्थ चेतना

प्रा. गामीत अनसुयाबेन अर्जुनभाई

छायावाद आधुनिक हिंदी कविता का स्वर्ण युग है। इसमें निराला एक ऐसे कवि थे जिनमें एक और अनुसरण एवं अनुकरण दोनों के व्यामोह से मुक्त उनके व्यक्तित्व में अदम्य जिजीविषा थी तो दूसरी ओर आधुनिकता के मोह में अनावश्यक स्थान पर अतीत संस्कृति के प्रति आस्था। इन्होंने सांस्कृतिक गौरव को अदूभासित करने वाली 'राम की शक्ति पूजा', 'पंचवटी प्रसंग', 'यमुना के प्रति', 'छत्रपति शिवाजी का पत्र', 'तुलसीदास' जैसी पौराणिक, ऐतिहासिक इतिवृत्तों को लेकर रचनाओं का अवश्य किया है, लेकिन जहाँ भी उनमें युगधर्म का आवेग एवं तेवर पूर्णरूप से उजागर हुआ है।

छायावादी काव्य जब सपनों की सुरभित मदिरा पीकर मानस के रंगमहल में सतरंगी कामनाओं ताने-बाने को बुनता, इर्द-गिर्द मंडराते, बिखरे छटपटाते यथार्थ से आँखें मूंदे था तब तक भी निराला ने साधनहीनता की बेबसी, ग्लानि का आत्मपीड़न और उच्च वर्ग के दमनचक्र से शोषित लोगों की भीड़ का अवलोकन किया और उस अनंत लोगों की भीड़ में उन्होंने देखा-कुचला जाता, दम तोड़ता मानव। यथार्थ एवं प्रगति की भावभूमि निराला की काव्यचेतना का मुख्य वर्ण विषय है।

वास्तव में छायावादी कविता काल एक सांस्कृतिक आंदोलन एवं राष्ट्रीय जागरण का युग रहा है राष्ट्र-प्रेम छायावादी कविता की एक समृद्ध एवं लोकव्यापी पृष्ठभूमि थी। प्रसाद के आँसु में करुणा का स्वर, कामायनी में त्रस्त पीड़ित मानवता का समरसता का संदेश, पंत का मध्यपथ एवं महादेवी की करुणा व्यापक अर्थ में मानवतावादी दृष्टिकोण की द्योतक है। इसी मानवतावादी वैचारिकता के लोकव्यापी रूप को निराला ने काव्यात्मक रूप दिया है। निराला ने मानवतावादी धरातल पर खड़े होकर पुरानी फटी झोली का मुँह फैलाते भिक्षुक, चिलचिलाती धूप में पत्थर तोड़ती मजदूरी ने सामाजिक यंत्रणाओं की चक्की पिसती हुई विधवाओं, पूँजीवादी शोषण प्रक्रियाओं के शिकार कृषकों का अपनी रचनाओं में मार्मिक अंकन किया है जो पूँजीवादी अमानवीय अत्याचार का दस्तावेज बन गया है- "देखते देखा मुझे तो एक बार/उस भवन की और देखा छिन्नतारा/देखकर कोई नहीं! देखा मुझे उस दृष्टि से/जो मार खा रोई नहीं।।" (तोड़ती पत्थर) "वह आता/दो टुक कलेजे के करता, पछताता/पथ पर आता/पेट-पीठ दोनों मिलकर है एक/चल रहा लुकुटिया टेक/मुटठी भर दाने को भूख मिटाने को/मुँह फटी-पुरानी झोली का फेलाता।।" (भिक्षुक)

प्रथम उदाहरण में कवि निराला ने मानव का धिनौना हृदयबोधक रूप प्रस्तुत किया है

तो दूसरे में जो सोचने पर मजबूर करता है कि क्या मनुष्य को पेट भरने का सम्मानजनक साधन और अवसर प्रदान नहीं किया जा सकता। निराला ने बड़ी गहराई से महसूस किया कि पेट की भूख अनगिनत समस्याओं की अद्भावक है। यह समस्या दान-दया, भंडारा-लंगार या पुरस्कार भेंट से सुलझ नहीं सकती। इसका एकमात्र सुलझाव हैसमान आर्थिक बुनियादों पर समाज और व्यक्ति का नवनिर्माण परिश्रम में पूंजी का निवास-पूंजी द्वारा परिश्रम की अधीनता, अमानवीय शोषण के अनेक मर्मवेधक चित्र निराला ने अंकित किए हैं “जीर्ण बाहु है शीर्ण शरीर, तुझे बुलाता कृषक अधीर, हे विप्लव के वीर। चूस लिया है उसका सार/हाड़मात्र ही है आधार/ऐ जीवन के पारावार।”<sup>3</sup> (बादल राग)

निराला की काव्यचेतना शोषितों के मार्मिक चित्रों के निरूपण तक ही सीमित नहीं रही बल्कि प्रशासनिक, सामाजिक, आर्थिक आदि पहलुओं की विडम्बनाओं की समाप्ति के लिए बड़ी सूक्ष्मता से उजागर किया है। जहाँ समाज में सब ओर शोषण हो, आर्थिक अपहरण हो, भोले-भाले व्यक्तियों की समाप्ति के लिए लाक्षागृहों की योजना हो, विषमता की दमघोंटु समीर हो और जहाँ पुरोहित, कवि, लेखक, कलाकार आदि राज्य सत्ता के शोषणचक्र के हिमायती हो, वहाँ की राजव्यवस्था का यथार्थ अंकन निराला ने अपनी कविता ‘राजे ने अपनी रखवाली की’ में किया है। विवाह समाज का आधार है जीवन का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कर्म है, लेकिन धीरे-धीरे विवाह प्रणाली में भी अनेक विकृतियाँ समाविष्ट हो गईं। निराला को स्वयं इस समस्या का सामना करना पड़ा। अपनी पुत्री सरोज के लिए योग्य वर खोजने, दहेज देने, बारात बुलाने जैसे अनेक प्रश्न उनके समझ आए। कोई वर सामने आया भी तो बड़ी उम्र वाला, तेल पिए हुए दुर्गन्ध से लिपटे चमरौधे जूते पहने हुए और दहेज की माँग लेकर। निराला विद्रोह कर कह उठे- “यै कान्यकुब्ज-कुल कुलागार, खाकर पतल में करे छेद, ऐसे शिव से गिरिजा विवाह, करने की मुझको नहीं चाहा।”<sup>4</sup>

‘सरोज स्मृति’ वैसे तो एक शोकगीत है, लेकिन इसमें कवि ने सामाजिक जीवन के यथार्थ चित्र भी अंकित किये हैं।

वस्तुतः निराला की कविताओं में वर्तमान मानव जीवन की यथार्थता प्रतीत होती हैं। जिसमें दार्शनिक, आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक दृश्य दिखाई देता है।

### संदर्भ-

1. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला, तोड़ती पत्थर, पृ. 52
2. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला, भिक्षुक, पृ. 12
3. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला, बादल राग, पृ. 35
4. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला, सरोज स्मृति, पृ. 26

सरकारी विनयन एवं वाणिज्य कॉलेज, काछल

## मार्क्सवादी विचारधारा के परिप्रेक्ष्य में अब्दुल बिस्मिल्लाह के उपन्यासों का अध्ययन

अभिषेक कुमार पाण्डेय

मार्क्स के द्वारा दिया गया विचार मार्क्सवादी विचारधारा के नाम से जाना जाता है। महर्षि मार्क्स ने दुनिया के गरीबों के दुःख दर्दों से प्रभावित होकर एक नया चिंतन दिया जो समाज के लिए काफी प्रभावशाली सिद्ध हुआ।

मार्क्सवादी विचारधारा भारत में काफी बाद में आई। इस विचारधारा ने शोषितों का पक्ष लेते हुए शोषकों के खिलाफ एक युद्ध छेड़ दिया। पूँजीवादी व्यवस्था को तहस-नहस करने में मार्क्सवादी विचारधारा का महत्वपूर्ण योगदान है। यह विचारधारा भारत में 1936 ई. के बाद आई और इसने भारत के गरीबों, मजदूरों को काफी सम्बल प्रदान किया। इस विचारधारा का साहित्य पर काफी प्रभाव पड़ा। जैसा कि कहा जाता है कि साहित्य समाज का दर्पण होता है। इसलिए समाज में जो कुछ भी घटित होता है वह साहित्य में हमें दिखाई देता है। इसलिए साहित्य का समाज से अन्यान्य संबंध होता है।

हिन्दी साहित्य में मार्क्सवादी विचारधारा 1936 ई. से होकर अभी तक चली आ रही है। इसी विचारधारा से प्रभावित अब्दुल बिस्मिल्लाह भी है। क्योंकि किसी भी साहित्यकार की विचारधारा या रचना दृष्टि उसके द्वारा जिए गए जीवन-अनुभवों से ही बनती है। अपने जीवन को जीते हुए वह अपने समय और समाज को बहुत बारीकी से देख रहा होता है। वह अपने समाज को सच्चा मार्ग दिखाने वाला होता है। उसके समय में जो भी आन्दोलन चल रहे होते हैं वे कहीं न कहीं उसे प्रभावित करते हैं, लेकिन जो विचार या आन्दोलन उसके जीवन के ज्यादा नज़दीक होता है वहीं उसे प्रभावित करता है। “अब्दुल बिस्मिल्लाह पर प्रारंभ में सर्वाधिक प्रभाव जयशंकर प्रसाद, बच्चन जी तथा नज़ीर अकबराबादी का रहा। आगे चलकर तुलसीदास, गालिब, निराला, अज्ञेय और डॉ. जगदीश गुप्त ने भी उन्हें अपने-अपने ढंग से स्पर्श किया। पाकिस्तानी लेखक इब्ने इंशा भी उन्हें पसंद है। एमाइल बर्न्स की पुस्तक ‘मार्क्सवाद क्या है’ ने उन्हें महर्षि मार्क्स और उनकी पुस्तकों तक पहुँचाया। इन सबके साथ-साथ उन्हें सबसे ज्यादा प्रभावित किया इस बेदर्द समाज की ठोकरों ने जिन ठोकरों ने उन्हें एक सर्वश्रेष्ठ सर्वहारा बना दिया।”<sup>1</sup>

अब्दुल बिस्मिल्लाह की रचना दृष्टि में मार्क्सवादी विचारधारा काफी गहराई तक समाई हुई है। अब्दुल बिस्मिल्लाह की रचना दृष्टि का जन्म वैसे तो इलाहाबाद में हुआ था, लेकिन

उनकी दृष्टि ने परिपक्वता बनारस में हासिल की। बनारस की धरती पर आकर कबीर और प्रेमचन्द को भला कैसे भुलाया जा सकता है। इसलिए अब्दुल बिस्मिल्लाह को इन दोनों साहित्यकारों ने बहुत गहराई तक प्रभावित किया। इससे इनकी रचनादृष्टि और व्यापक हुई। अब्दुल बिस्मिल्लाह के उपन्यासों में गरीबों, मजदूरों, शोषितों की पीड़ाओं का बखूबी वर्णन हुआ है। क्योंकि लेखक ने स्वयं ही एक मजदूर का जीवन जिया है। अर्थात् अब्दुल बिस्मिल्लाह के पास भोगा हुआ यथार्थ है। इसलिए कहा जाता है - जाके पाँव न फटे बेवाई सो क्या जाने पीर पराई।

एक तरफ उनके उपन्यासों में हाशिए का समाज उभरता है तो दूसरी तरफ सबाल्टर्न इतिहास की प्रस्तावना भी उनकी दृष्टि से बच नहीं पाती है। वे लिखते हैं- “कि उपन्यास लिखने का अर्थ है इतिहास लिखना जो इतिहासकारों ने लिखे हैं, उनमें मूलतः राजाओं-महाराजाओं, शहंशाहों-नबाबों के पराक्रम हैं, जीवन भी उन्हीं का है, प्रजा अर्थात् जनता का जीवन यदि है भी तो उन्हीं के सन्दर्भ में उसे जोड़कर देखा गया है, फिर सामान्य आदमी का इतिहास कहाँ है? वह साहित्य में है, पता नहीं इस बात से सहमति होगी या नहीं कि मुख्यतः उपन्यास में है।”<sup>2</sup>

अब्दुल बिस्मिल्लाह की सबाल्टर्न दृष्टि लगभग उनके सभी उपन्यासों में दिखती है। उनकी रचना दृष्टि की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे मार्क्सवादी होते हुए भी मार्क्सवाद के सिद्धान्त को सामने रखकर उपन्यास की रचना नहीं करते हैं। बल्कि वे अपने अनुभवों को मुखर करने के लिए परिस्थितियों की कशमकश को रेखांकित करने के लिए और उसी बहाने यह जानने के लिए कि उनका दर्शन जीवन को प्रेरित करने में कहाँ तक समर्थ है। अब्दुल बिस्मिल्लाह मार्क्सवाद के सिद्धान्त को हूबहू स्वीकार नहीं करते बल्कि वे मार्क्सवाद को भारतीय सामाजिक परिवेश में उसकी प्रासंगिकता के अर्थ में ग्रहण करते हैं।

अब्दुल बिस्मिल्लाह के दो उपन्यास ‘जहरबाद’ और ‘समर शेष है’ में उनकी रचना दृष्टि पर जीवन दृष्टि हावी है। यहाँ वे गरीब, मजदूर के रूप में वे स्वयं एक पात्र बनकर उपस्थित हैं। ‘जहरबाद’ उपन्यास में बिस्मिल्लाह ने दिखाया है कि कैसे एक हंसता-खेलता परिवार अर्थाभाव के कारण अपने ही लोगों के बीच तमाशा बन जाता है। “यह उपन्यास ग्रामीण परिवेश में जीवन के अस्तित्व के लिए संघर्षरत अर्धसर्वहारा लोगों की कहानी है - उनके दुःखों की क्षुधाग्नि की दाहकता की, हताशा और निराशा की, झुंझलाहट, खिजलाहट और अंतहीन झगड़ों की तथा ‘अभावों के कारण’ मनुष्य के जहरीले जीव में परिवर्तित हो जाने की कहानी है। एक छोटे से बच्चे की आँखों का यह संसार जिसे भोगने-डोलने को वह विवश है और अपने सीमित अनुभवों के सहारे ही परिस्थिति की भयावह विकटता और निरीह क्षुद्रता की वजहों को समझने की कोशिश करता है और यह पाता है कि ‘सारी लड़ाई की जड़ है वैसा’।”<sup>3</sup>

प्रकाशन के क्रम में पहला उपन्यास ‘समर शेष है’ जो जहरबाद की अगली कड़ी है। इस उपन्यास में भी मैं नामक युवक के संघर्षों को दिखाया गया है। यह युवक जो उपन्यास का नायक है तमाम विपरीत परिस्थितियों में संघर्ष करने के बाद भी अपना हिम्मत नहीं हारता है। “या परवरदिगार! किसी को यतीम न बना”<sup>4</sup> यह वाक्य इस उपन्यास का केन्द्रीय बिन्दु माना जा सकता है। इन दोनों उपन्यासों को मिला देने पर अब्दुल बिस्मिल्लाह के सम्पूर्ण व्यक्तित्व को आसानी से समझा जा सकता है। यह लेखक के जीवन के संघर्षों का इस्पाती

दस्तावेज भी है।

अब्दुल बिस्मिल्लाह अपने उपन्यास 'झीनी-झीनी बीनी चदरिया में शोषकों को बेनकाब करते हुए नज़र आते हैं। परजीवी और मेहनतकश का संघर्ष 'झीनी-झीनी बीनी चदरिया' नामक उपन्यास की मुख्य कथाभूमि है। इस उपन्यास में बिस्मिल्लाह जी दिखाते हैं कि शोषण के मार्ग में जाति, धर्म, वर्ग, मजहब का कोई भेदभाव नहीं होता है। दोनों ही एक ही समुदाय से हैं, यहाँ शोषक अंसारी हैं तो शोषित भी अंसारी ही है। एक बात और शोषक जब शोषित पर शासन करता है तो दूसरे धर्म या समुदाय के शोषकों से भी साँठगाँठ कर लेता है। इस उपन्यास में हाजी अमीरुल्ला के साथ सेठ गजाधर प्रसाद की साँठगाँठ इस बात को सही तर्क प्रदान करती है। इस उपन्यास में यह देखने को मिलता है कि प्रेमचन्द के उपन्यास में होरी के लिए जो स्थान गाय का हैं वही स्थान अलीमुन के लिए साड़ी का है। वह भी एक बनारसी साड़ी पहनने के लिए तरस जाती है और उसकी अंतिम इच्छा पूरी नहीं हो पाती है। कितनी विडंबना है कि जो बुनकर पूरे विश्व को साड़ी पहनने के लिए बुनते हैं वहीं बुनकरों की स्त्रियाँ एक साड़ी की तमन्ना लिए मर जाती है। यह व्यवस्था का दोष ही है। इस बात को इस उपन्यास में अब्दुल बिस्मिल्लाह ने पूरी सच्चाइयों के साथ प्रस्तुत किया है। बुनकरों के परिश्रम से हाजियों ने अपनी कोठियाँ तान ली हैं जबकि बुनकर सीलन भरी बदबूदार कोठरियों में रहने के लिए विवश हैं। हाजियों के घरों में विदेशी कप-प्लेट भरे हुए हैं जबकि बुनकरों के यहाँ टूटे-फूटे टिन और जस्ते के बर्तन रखे हुए हैं। निम्न वर्ग की दास्तान को अब्दुल बिस्मिल्लाह ने काफी नज़दीक से देखा है और वे स्वयं इन परिस्थितियों में रह चुके हैं। इसलिए यहाँ वे पाठकों को सच्चाइयों से रूबरू कराते हैं।

अब्दुल बिस्मिल्लाह के उपन्यास 'मुखड़ा क्या देखे' में भी मार्क्सवादी विचारधारा का दिग्दर्शन होता है। यह उपन्यास उनका एक महत्वपूर्ण उपन्यास है। इस उपन्यास की कथा बहुआयामी और अत्यन्त व्यापक है। यह स्वतंत्रता प्राप्ति को लेकर इमरजेन्सी के बाद यानि 1980 तक के इतिहास की घटनाओं की व्याख्या करता है। "सामंती ग्राम संबंधों की तार-तार होती बुनावट, परम्परागत पेशों की टूटन, जाति-व्यवस्था की जकड़न, साम्प्रदायिकता की अन्तर्धारा, समाज के निम्न वर्गों में जनतांत्रिक चेतना का उभार, सामाजिक न्याय की अनुगूँज एवं गाँव के मुहाने पर बाज़ार की दस्तक का अत्यंत सहज चित्रण इस उपन्यास में किया गया है।"<sup>5</sup>

इस उपन्यास में भी बिस्मिल्लाह ने शोषकों की पहचान करने में भूल नहीं की है। पं. रामवृक्ष पांडे के साथ ही साथ जब्बार मौलवी साहब के शोषण को भी बिस्मिल्लाह जी बर्दाश्त नहीं करते हैं बल्कि उसके गहराइयों में प्रवेश करते हुए उन्हें बेनकाब करते हैं और यह दिखाते हैं कि शोषक वर्ग का चरित्र एक समान होता है। अल्ली जब पंडित जी से पिटकरी मौलवी साहब के पास सहायता के लिए जाता है तो मौलवी साहब भी उसे ही दोषी ठहराने लगते हैं इससे अल्ली को निराशा होती है और उसे बाद में गाँव छोड़ना पड़ता है।

यह दर्शाता है कि गाँवों में अभी भी वर्ग, वर्ण, जाति-व्यवस्था की दीवारें कितनी मजबूती से खड़ी हुई हैं जिसको ढाल बनाकर बड़े वर्ग के लोग छोटे वर्ग के लोगों को सताते हैं। इस तथ्य को इस उपन्यास में काफी अच्छे ढंग से दिखाया गया है। अब्दुल बिस्मिल्लाह अपने उपन्यासों में मुस्लिम समाज के वृहत निम्न जन को ही अपना नायक बनाते हैं। उनके ही दुःख दर्दों की कहानियाँ कहते हैं। वे ऐसे लोगों की बातें कहते हैं- "जिसकी पीड़ा के मूल

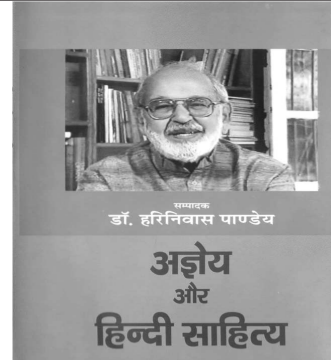
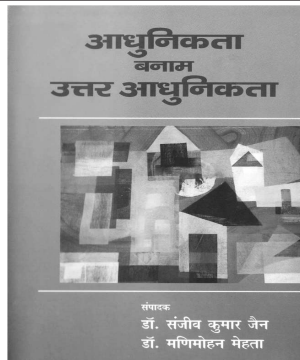
में न तो पाकिस्तान है और न ही विभाजन की त्रासदी। अल्ली चूड़िहार की यातना उस सामंती उत्पीड़न की परिणाम है जिसके चलते कभी उसके बाप दादा ने किसी जमाने में अपना धर्म बदला था और हिन्दू से मुसलमान हुए और जिसने आज स्वयं उसे गाँव छोड़वाकर ईसाई-धर्म परिवर्तन के कगार पर ला खड़ा किया था। यहाँ अल्ली चूड़िहार और रामदेव चमार की यंत्रणा के स्रोत और राहत की गली एक ही है। दोनों की यातना के मूल में सामंती उत्पीड़न एवं वर्णाश्रमी व्यवस्था पर आधारित अनुत्पादक पारम्परिक पेशे हैं तो दोनों के लिए राहत की गली धर्म-परिवर्तन की विवशता में खुलती है क्योंकि चमार पासी की कउनों इज्जत है का ई गाँव में। रमदेउवा भूखा मर रहा था किसी ने सरन दी उसको? आखिर घूरपूर के हाफिज्जी हीं काम आए कि नहीं? उनका बिजनेस है चमड़े का। उ हुंबई चमड़ों का हिसाब-किताब लिखता है, देखो भई जहाँ पेट भरता है, हुंबई अपनी मुक्ति दिखाई पड़ती है। चारों तरफ सारे है हीं, कि हुवाँ इतने जने मुसलमान हो गए। ई भी हो गया।”<sup>6</sup>

अब्दुल बिस्मिल्लाह ने दिखाया है कि भेदभाव, आर्थिक मजबूरियों के चलते ही व्यक्ति को धर्म परिवर्तन तक करना पड़ता है, लेकिन साथ ही लेखक इन समाज के ठेकेदारों की पहचान करने को भी कहता है तथा इन सामाजिक ठेकेदारों को हटाने के लिए संघर्ष करने के लिए लोगों को उत्प्रेरित करता है। जब तक गरीब-मजदूर एक होकर इन शोषकों के खिलाफ एक राष्ट्रीय युद्ध नहीं छेड़ेंगे तब तक समाज में हाशिए के लोगों पर जुल्म और अत्याचार होते रहेंगे। इस बात को लेखक ने लगभग अपने सभी उपन्यासों में दिखाने का प्रयास किया है और वह इसमें कामयाब भी हुआ है। इसलिए मार्क्सवादी विचारधारा से अब्दुल बिस्मिल्लाह के लगभग सभी उपन्यास ओतप्रोत दिखाई पड़ते हैं।

### सन्दर्भ-

1. (सं.) चन्द्रदेव यादव, अब्दुल बिस्मिल्लाह का कथा साहित्य, पृ. 177
2. (अतिथि संपादक) पंकज बिष्ट, हंस, जनवरी 1999, पृ. 111
3. अब्दुल बिस्मिल्लाह का कथा-साहित्य, पृ. 70
4. वही, पृ. 74
5. अब्दुल बिस्मिल्लाह का कथा साहित्य, पृ. 92
6. वही, पृ. 93

शोध छात्र, हिन्दी विभाग, पाण्डिचेरी विश्वविद्यालय, पुदुचेरी - 605014





## आदिवासी समाज और शिक्षा

डॉ. भगवान सिंह जे. सोलंकी

शिक्षा का समाज में महत्वपूर्ण स्थान है। शिक्षा से समाज में परिवर्तन लाने का महत्वपूर्ण स्थान है उनके द्वारा सामाजिक, मनोवैज्ञानिक, आर्थिक विकास एवं उत्पादक क्षेत्रों में परिवर्तन ला सकते हैं। उनसे व्यक्ति और समाज व्यवस्था में भी परिवर्तन ला सकते हैं। शिक्षा से समाज में नई जानकारी, नई सामाजिक दृष्टि और नये ज्ञान का विकास होता है। विश्व में अधिकांश देशों ने अपने देश के नागरिक को प्राथमिक सुविधायुक्त-मुक्त शिक्षा, उनको अपना कर्तव्य समझकर स्वीकार किया है। 1948 के मानवीय अधिकार के पुनः वसल डेकलरेशन की 26वें अनुच्छेद (धारा) में लिखा है कि हरेक व्यक्ति को शिक्षा लेने का अधिकार है।

उसके अनुसार अनुसूचित जनजाति के संविधान के अनुच्छेद के अनुसार समाज के निम्न वर्गों के आर्थिक और शिक्षा का विकास में राज्य अधिकांश ध्यान देगी। उनमें भी अधिकांशतः अनुसूचित जाति और जनजाति के लोगों का सामाजिक अन्याय और हर प्रकार के शोषण से राज्य सरकार की रक्षा करेगी।

### गामीत लोगों का शिक्षा के प्रति अभिमत

गामीत लोगों का शिक्षा के प्रति लगाव नकारात्मक देखने को मिलता था। उनका मुख्य कारण उनकी सामाजिक और आर्थिक पिछड़ापन की स्थिति है। गामीत लोग भी अन्य आदिवासी की तरह जमीनदार और सभ्य समाज के लोगों द्वारा शोषित हुए थे। उनके सिर पर रूण थे। फलस्वरूप वे अपने संतानों को पढ़ाते नहीं थे। किन्तु बदलती हुई परिस्थितियों में गामीत परिवार के सभ्य समाज के साथ सम्पर्क ज्यादातर होने से और इस विस्तार में खिसती मिशनरियों के प्रभाव के कारण उनमें शिक्षा का स्तर धीरे-धीरे बढ़ता जाता है। उनके कारण भी उन्हीं का शिक्षा के प्रति लगाव धीरे-धीरे नकारात्मक हो रहा है।

### गामीत समाज और शिक्षा

सोनगढ़ गाँव के अभ्यास में पसंद किये गामीत कुटुंबों की शैक्षणिक स्थिति निम्न है- पसंद की हुई 100 गामीत परिवार के कुल व्यक्तियों की शैक्षणिक माहिती प्राप्त हुई। जिनमें से 40 व्यक्ति उनकी उम्र शिक्षा के लिए ज़रूरी उम्र से कम उम्र थी। जैसा कि 40 व्यक्तियों 0 से 5 साल की उम्र है और कुल 460 व्यक्तियों में से 70 व्यक्तियों जो कुल

व्यक्तियों का 19.57 प्रतिशत होता है। जिनमें से 27 पुरुष और 63 महिलाएँ हैं। जबकि 63 व्यक्तियों 13.70 प्रतिशत लोगों में 1 से 4 कक्षा की शिक्षा दिखाई देती है। जिनमें 35 पुरुषों और 28 महिलाएँ हैं। 59 व्यक्तियों जो कुल संख्या का 12.83 प्रतिशत होता है।

जिनमें 5 से 7 कक्षा की शिक्षा ली है। जिनमें 35 पुरुषों और 24 महिलाएँ थीं। 105 व्यक्तियों जो कुल व्यक्तियों का 22.52 प्रतिशत होता है उनमें 8 से 10 वी कक्षा तक शिक्षा ली है। जिनमें 54 पुरुषों और 51 महिलाएँ हैं। 40 व्यक्तियों में 11 और 12 वी कक्षा तक शिक्षा दिखाई देती है। जिनमें 20 पुरुष और 20 महिलाएँ हैं। जबकि कॉलेज में पढ़ते हुए व्यक्तियों की संख्या 48 है जिनमें 21 पुरुष और 27 महिलाएँ हैं। यह 10.43 प्रतिशत होता है। गामीत लोगों में पिछले दशक में टेक्निकल शिक्षण का विकास मालूम पड़ता है। जिनमें आई.टी. आई. और डिप्लोमा इंजीनियरिंग का शिक्षण भी पाते हैं। उनका प्रमाण 6 प्रतिशत है। कुल व्यक्ति के 0.85 प्रतिशत लोग कॉमर्शियल, आर्ट्स, एम. एस. डब्ल्यू., सी. पी. एड. प्रकार के शिक्षा का समावेश होता है। कुल 460 व्यक्तियों में से 227 पुरुषों और 233 महिलाओं का समावेश होता है जिनमें पुरुष की प्रतिशत 49.34 और महिला की प्रतिशत 50.66 प्रतिशत शिक्षा का प्रमाण दिखाई देता है। 5 प्रतिशत लोग पी.टी. सी. और बी. एड. कॉलेज में भी जाते हैं।

इस तरह गामीत लोगों में शिक्षण की स्थिति देखते हुए मालूम होता है, कि उनमें शिक्षा का धीरे-धीरे बढ़ता जाता है और शिक्षा के प्रति लगाव और अभिगम भी नकारात्मक हुआ है।

#### अध्ययन के दौरान चयन किये हुए कटुंबों की शिक्षा संबंधी जानकारी

क्र.सं.	शिक्षा	पुरुष	महिला	कुल
1.	शिक्षा की उम्र नहीं है ऐसे व्यक्ति	21	19	40
		9.25%	8.15%	8.70%
2.	अपठित	27	63	90
		11.89%	27.03%	19.57%
3.	1 से 4 कक्षा	35	28	63
		15.42%	12.02%	13.70%
4.	5 से 7 कक्षा	35	24	59
		15.42%	10.30%	12.83%
5.	8 से 10 कक्षा	54	51	105
		23.79%	21.89%	22.83%
6.	11 से 12 कक्षा	20	20	40
		8.81%	8.81%	8.70%
7.	कॉलेज	21	27	48
		7.25%	11.59%	10.43%
8.	तकनीकी शिक्षण	11	-	11
		4.85%	-	4.85%
10.	अन्य	03	01	04
	कुल	227	233	460
		49.34%	50.66%	100%

### शिक्षा में आने वाली अवरोधक परिस्थितियाँ एवं सुझाव

वर्तमान समय में किसी भी समाज की शिक्षा के बारे में जानकारी प्राप्त करनी हो, तो उस समाज की सामाजिक एवं आर्थिक पहलू सक्षम होगी तो समाज में शिक्षा का स्तर बढ़ेगा, अगर शिक्षा का आर्थिक पहलू कमजोर होगा तो शिक्षा का स्तर कमजोर होगा। आर्थिक परिस्थितियों के साथ-साथ सामाजिक परिस्थितियों यानी की जो वो समाज के रीति-रिवाज और मान्यताएं भी समाज में शिक्षा के स्तर पर असर करती है। अगर समाज में अंधविश्वास, शंकाएं एवं सामाजिक रूढ़ियां होगी तो ऐसे समाज में शिक्षा का स्तर नीचा होगा। क्योंकि ऐसे समाज के लोग खुद के समाज को बनाये रखने के लिए समाज में रूढ़ियां एवं मान्यताओं के आधार पर किसी तरह से समझौता नहीं करते। इस प्रकार सामाजिक रीति-रिवाज मान्यताएं एवं आर्थिक परिस्थितियां समाज में शिक्षा के स्तर पर असर करती है। वे एक अवरोधक परिस्थिति के रूप में अपना अहम् हिस्सा रखती है। गामीत लोगों की आर्थिक परिस्थिति कमजोर देखने को मिलती है। इसलिए गामीत समाज के लोगों में शिक्षा का स्तर कम दिखाई देता है। पर लोगों के विचारों में परिवर्तन आया है। अब वह मजदूरी करके भी अपने बच्चों को पढ़ाई करवाते हैं। इसके अलावा सामाजिक रीति-रिवाज एवं मान्यताएं जैसा कि- 'लड़की को पराया धन समझाना। परिणामतः लड़की को पढ़ाई से वंचित कर दिया जाता है, ऐसी मान्यताओं की वजह से भी समाज में शिक्षा का स्तर कम देखने को मिलता है। सभ्य समाज के सम्पर्क में आने से गामीत समाज के लोगों को इस बात का एहसास हुआ है कि लड़की को पढ़ाना चाहिए। तब ही उसकी शादी अच्छे घराने में हो सकती है। साथ ही वह आत्मनिर्भर हो सकती है। इसलिए लोग अपनी लड़की को पढ़ाई कर करवाने लगे हैं।

सरकार के द्वारा अनुसूचित जनजाति के लोगों के लिए बनाई हुई योजनाओं का लाभ गामीत जनजाति को भी मिलती है। इस प्रकार के द्वारा किये जाने वाले प्रयास जैसे कि फीस माफी की योजना, सरकारी छात्रावास में रहने-खाने की सुविधाएं आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हो ऐसे छात्रों के लिए छात्रवृत्ति योजना आदि के द्वारा गामीत जनजाति के लोगों में शिक्षा के स्तर को बढ़ाने में सहायक बनते हैं, समाज में शिक्षा का स्तर बढ़ सके इसके लिए कई बार साक्षरता अभियान चलाया जाता है।

सरकार द्वारा किये जाने वाले प्रयास के अलावा स्वेच्छिक संस्थाएँ एवं अन्य बड़े-बड़े आर्थिक संगठनों के द्वारा कमजोर वर्गों में छात्रों को आर्थिक सहायता देकर वे शिक्षा पा सके हैं ऐसे प्रयास किये जाते हैं। इसके अलावा ऐसी संस्थाओं द्वारा विभिन्न प्रकार के हल बताये जाते हैं और उसी के द्वारा हो सके ऐसी सहायता करके जो शिक्षा में बाधरूप अवरोध है, उसे दूर करने में सहायक होते हैं।

गामीत लोग प्राचीन समय से ही सामाजिक एवं आर्थिक स्थिति से पिछड़े होने से उन लोगों का विकास नहीं हुआ था और इसकी वजह से सभ्य समाज एवं गामीत समाज के विकास में फासला दिखाई देता है। ये असमानता दूर करने के लिए सरकार के द्वारा सरकारी नौकरियों में अनामत की व्यवस्था की गई है। इस प्रकार अनामत की व्यवस्था करके सरकार ने शिक्षा का स्तर बढ़ाने के प्रयत्न किये मालूम होते हैं। इस प्रकार अनामत की वजह से नौकरी में बढ़ती हुई शिक्षावृद्धि की वजह बनती है।

### शिक्षा एवं परिवर्तन

शिक्षा समाज में परिवर्तन लाने वाली एक अहम् परिस्थिति है। शिक्षा के द्वारा ही समाज

में सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक परिवर्तन आ सकता है। शिक्षा के द्वारा समाज में नई जानकारी, नई समझ दृष्टि, नया ज्ञान विकसित होता है। तो अब प्रस्तुत अभ्यास में हम शिक्षा के द्वारा गामीत समाज में विविध क्षेत्रों में किस प्रकार का परिवर्तन आया है उसके बारे में जानकारी प्राप्त करेंगे।

### 1. आर्थिक क्षेत्र में परिवर्तन

गामीत समाज में शिक्षा का स्तर धीरे-धीरे बढ़ता ही जा रहा है। लोगों के बारे में अभिगम नकारात्मक बनता हुआ जा रहा है। गामीत समाज में शिक्षा स्तर बढ़ने से समाज के विभिन्न क्षेत्रों की जानकारी बढ़ी है। उन लोगों की अर्थ व्यवस्था में परिवर्तन आया है। पहले उन लोगों को मूल व्यवसाय खेती ही थी। उसके सिवा लोग खेती विषयक प्रवृत्तियों में जुड़े हुए थे। पर अब उन लोगों में शिक्षा का स्तर बढ़ने से विभिन्न व्यवसाय जैसे किफोटोग्राफी, ट्रान्सपोर्ट, नौकरी जैसे व्यवसाय अपनाने लगे हैं। समाज के लोग प्राचीन जंगल पर आधारित अर्थव्यवस्था छोड़कर वर्तमान समाज के मूड़ीवाद पर आधारित समाज भी है ऐसी मान्यता का स्वीकार करने लगे है।

गामीत समाज के लोगों में शिक्षा का स्तर बढ़ने से वह लोग अब नौकरी को व्यवसाय के रूप में स्वीकार करने लगे है। इसके अलावा खेती करते है, पर शिक्षा के विकास की वजह से उन लोगों को नई दिशा मिली है। खेती की पद्धति में विकास हुआ है। प्राचीन समय में परंपरागत हल पद्धति से पहले खेती किया करते थे पर अब परिस्थिति बदल गई है। साथ ही नये साधनों का विकास होने से तकनीक का उपयोग करते है। अब वे ट्रैक्टर द्वारा खेती करने लगे है। साथ ही फसल की हिफाजत के लिए एवं उत्तम बीज, खाद एवं कीटनाशक दवाओं का उपयोग करने लगे है। परिणामतः फसल के उत्पादन में वृद्धि हुई है और उन लोगों की आर्थिक परिस्थिति में बदलाव आया है। इसके अलावा गामीत लोग खेती का व्यवसाय छोड़कर अन्य व्यवसाय के साथ जुड़ गये है। जैसा कि - फोटोग्राफी, ट्रान्सपोर्ट, टाईपक्लास, कोन्ट्राक्टर, किसान की दुकान खोलकर जीवन की ज़रूरी वस्तुओं को बिकने का व्यवसाय आदि में व्यस्त होने लगे है और खुद का आर्थिक जीवन व्यतीत करते है। इस प्रकार उन लोगों के दृष्टिबिन्दु में परिवर्तन आया है।

### 2. सामाजिक क्षेत्र में आया हुआ परिवर्तन

गामीत समाज में आर्थिक क्षेत्र के अलावा सामाजिक क्षेत्र में भी शिक्षा का विकास होने की वजह से परिवर्तन आया है। सामाजिक जीवन के विभिन्न पहलू जैसे कि -जन्म, विवाह, मृत्यु, सामाजिक त्योहार, उसके मानने की पद्धति में परिवर्तन आया है। गामीत समाज में पहले बच्चे के जन्म पर दायन बुलायी जाती थी। पर अब शिक्षा के द्वारा आई हुई नयी समझ से प्रसुति अब अस्पताल में करवाई जाती है। इसके अलावा उन लोगों में बच्चे का नाम पहले दायन रखती थी पर अब बच्चे का नाम बुआ के द्वारा रखा जाता है। साथ ही उन लोगों की विवाह रस्म में भी परिवर्तन आया है। वह लोग हिंदू रस्म के मुताबिक शादी करवाते है। शिक्षा के प्रसार से अंधश्रद्धा एवं शंकाओं जैसे दुषणों में से बाहर आने लगे है। शिक्षित लोग अब पैन्ट, शर्ट, महिलाएँ चूड़ीदार का उपयोग करती है और साड़ी का उपयोग करती है। खुद की ग्रामीण बोली का प्रयोग कम कर दिया है। गुजराती भाषा का प्रयोग करने लगे है।

त्योहार भी धूमधाम से मनाने लगे है। त्योहार के दिन तरहतरह के मिष्ठान पकाये जाते है। कभी-कभी घर पर ही बना लेते है। जिस में मुर्गी, मछी, दालचावल एवं सब्जी-रोटी खाते है। खुद मजदूरी करके भी अब अपने बच्चों को अभ्यास करवाते है। गामीत समाज के लोग बेटा-बेटी के पक्षपात से दूर रहते है, बेटे के लिए भी उतना ही सोचते है। इस प्रकार गामीत समाज के लोगों के जीवन में काफी परिवर्तन आया है।

### 3. राजकीय क्षेत्र में आया हुआ परिवर्तन

समाज में शिक्षा के स्तर के बढ़ने से जो समाज को काकूणि लाभ मिलते है, उसकी जानकारी मिलती है, साथ ही समाज में राजकीय जागृति भी आती है। समाज में जागृति आने से लोग अपने प्रश्नों के बारे में सतर्क बनते है और प्रश्न के हल के लिए प्रयास किये जाते है। यहाँ गामीत समाज के लोगों में ज्योंज्यों शिक्षा का प्रयास बढ़ता जाता है त्यों-त्यों लोग खुद के प्रश्न के बारे में, खुद की जरूरतों के बारे में जागृत दिखाई देते है। वह खुद के प्रश्न के निकाकरण के लिए राजकीय रीति से संगठित बने है और उसका निराकरण लाने का प्रयत्न करते है। इसके अलावा आवेदन-पत्र के द्वारा प्रश्नों की जानकारी संबंधित अफसरों को देकर उसका हल लाने की कोशिश करते है। गामीत समाज के कई लोग खुद के समाज के उत्कर्ष के लिए और अन्य समाज के उत्कर्ष के लिए राजकीय क्षेत्र में व्यस्त रहते है। ऐसे व्यक्ति जो पक्ष में जुड़े हुए रहते है तथा वही पक्ष में निश्चित जगह पर रहकर खुद की भूमिका निभाते है। जिसमें पक्ष के प्रमुख-उपप्रमुख के रूप में युवा समिति के प्रमुख के रूप में और पक्ष के प्रचारक के पद पर रहे है। इस पद पर रहकर उन्होंने पक्ष के प्रश्नों का हल लाना, पक्ष के हेतुओं को सिद्ध करने के लिए प्रयत्न करना, पक्ष को मजबूत करना तथा पक्ष का प्रचार करना जैसे कार्य करने पड़ते हैं और संपूर्ण निष्ठा से निभाते है। इस प्रकार गामीत समाज के लोगों में राजकीय क्षेत्र में परिवर्तन आया है।

### संदर्भ ग्रंथ-

1. शाह धनश्याम, आदिवासियों में शिक्षा, सेन्टर फोर सोशल स्टडीज, सूरत-1984
2. चावड़ा खेमचंद्रभाई सो., अनुसूचित जातियों जनजातियों के लिए संविधान की व्यवस्थाएँ उत्पत्ति एवं अमल, अभ्युदय प्रकाशन, धिणोज-384 225
3. शाह विमल, गुजरात के आदिवासी
4. मुखर्जी रवीन्द्रनाथ, भारतीय सामाजिक संस्थायें
- 5- Sukant K Chaudhary, Tribal Identity, Rawat Publications New Delhi- 2004

## विद्यार्थियों की सृजनशीलता का उनकी शैक्षिक उपलब्धि पर प्रभाव

डॉ. शोभना श्रीवास्तव  
डॉ. ज्योत्सना भटनागर

प्रस्तुत शोधपत्र में बालक एवं बालिकाओं की सृजनशीलता का उनकी शैक्षिक उपलब्धि पर प्रभाव पर विचार किया गया है। इस अध्ययन में हाई स्कूल स्तर में अध्ययनरत, विद्यार्थियों को रखा गया है। न्यादर्श के रूप में 500 विद्यार्थियों को लिया गया है जिनमें 250 बालक एवं 250 बालिकाएँ हैं।

### प्रस्तावना

स्वतन्त्रता के बाद भारतीय समाज में बड़ी तेजी से राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक परिवर्तन हुए। बदली हुई परिस्थितियों में हमारे सामने कई चुनौतियाँ भी सामने आईं जिनका सामना शिक्षा के माध्यम से सम्भव है। व्यक्तिगत विभिन्नताओं के कारण शिक्षा में मनोविज्ञान का उपयोग होने लगा। मनोविज्ञान के क्षेत्र में किये गये अध्ययनों से ज्ञात हुआ कि व्यक्ति के विकास में शारीरिक रचना, आचरण, इच्छाएं सृजनशीलता का महत्वपूर्ण योगदान है। विश्वयुद्ध के उपरान्त सृजनशीलता के प्रत्यय पर मनोवैज्ञानिकों व शिक्षा शास्त्रियों ने विशेष ध्यान दिया। तीव्र गति से हो रहे वैज्ञानिक तकनीके व औद्योगिक विकास तथा आधुनिककरण ने मानव जीवन को इतना जटिल और समस्याग्रस्त बना दिया कि जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में सृजनशीलता की आवश्यकता महसूस की जाने लगी। सृजनशीलता वह योग्यता शक्ति है जो व्यक्ति को नित नये अविष्कार करने, जटिल समस्याओं के समाधान ढूँढने तथा जीवन को सुखमय बनाने के लिए मानव को सहयोग प्रदान करती है।

हमारे परिवार में प्रायः बच्चों की पढ़ाई पर विशेष ध्यान दिया जाता है उनकी अन्य गतिविधियों पर जोर नहीं दिया जाता। यदि बच्चे की रुचि पढ़ाई में कम हो चित्रकारी या अन्य क्षेत्रों में अधिक हो तो भी उसे पढ़ाई करने के लिये विवश किया जाता है। कभी-कभी अन्य गतिविधियों पर प्रतिबन्ध लगा दिया जाता है परिणामस्वरूप बालक की बाल्यावस्था से ही सृजनात्मक क्षमताएं विलोप हो जाती हैं। अतः यह महत्वपूर्ण हो जाता है कि इस पक्ष का अध्ययन किया जाये कि बालकों की सृजनशीलता का उनकी शैक्षिक उपलब्धि पर क्या प्रभाव पड़ा।

### पूर्व अनुसंधान

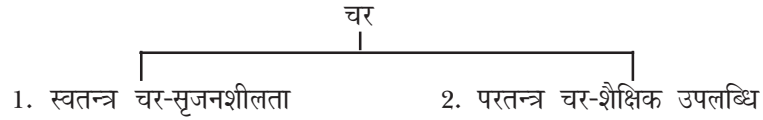
1. जोसेफ वेन्टले (1965) ने सृजनशीलता एवं शैक्षिक उपलब्धि के बीच संबंध का अध्ययन

किया परिणाम में पाया गया कि शैक्षिक उपलब्धि तथा सृजनशीलता में सार्थक सह-संबंध होता है।

- वेन सी. जोसेफ (2006) ने सृजनशीलता एवं शैक्षिक उपलब्धि के परस्पर संबंध का अध्ययन किया परिणाम में पाया गया है कि शैक्षिक उपलब्धि पर सृजनशीलता का नकारात्मक प्रभाव पड़ता है।

### उद्देश्य

हाईस्कूल स्तर में अध्ययनरत् उच्च, औसत, निम्न सृजनशीलता समूह वाले बालकों की शैक्षिक उपलब्धि पर सृजनशीलता के प्रभाव का अध्ययन करना।



### परिकल्पना

हाईस्कूल स्तर के अध्ययनरत् उच्च, औसत एवं निम्न सृजनशीलता समूह के बालकों की शैक्षिक उपलब्धि पर सृजनशीलता का कोई सार्थक प्रभाव नहीं पड़ता है।

### अनुसंधान उपकरण

सृजनशीलता के मापन के लिए बाकर मेंहदी के सृजनशीलता मापनी का प्रयोग किया गया है। न्यादर्श - सृजनशीलता के वर्गीकरण के आधार पर न्यादर्श

### सारणी क्रमांक 1

सृजनशीलता	समूह		संख्या
	बालक	बालिका	
उच्च	75	75	150
औसत	100	100	200
निम्न	75	75	150
योग			500

### परिणाम एवं व्याख्या

उच्च औसत एवं निम्न सृजनशीलता समूह वाले बालकों की शैक्षिक उपलब्धि संबंधों परिणाम -

सारणी क्र. 2

समूह	संख्या	मध्यमान	मानक विचलन
उच्च	75	68.35	12.79
औसत	100	64.61	12.37
निम्न	75	54.91	10.74

प्रसरण विश्लेषण सारणी सारांश

प्रसरण के स्रोत	स्वतंत्रता का अंश	वर्गों का योग	औसत वर्ग	'एफ' अनुपात	'पी' मान
समूहों के बीच	2	7307.78	3653.89	25.21	0.01
समूहों के मध्य	247	35793.12	144.91		

स्वतंत्रता के अंश - 2, 247 0.05 स्तर पर सार्थकता हेतु मान = 13.04

0.01 स्तर पर सार्थकता हेतु मान = 14.71

उपरोक्त सारणी में प्रदर्शित परिणामों से स्पष्ट हो जाता है कि सृजनशीलता के तीनों समूहों के मध्य सांख्यिकीय दृष्टिकोण से सार्थक अंतर देखने के लिए प्राप्त एफ अनुपात का मान 25.21 आया है जो 0.01 स्तर के निर्धारित न्यूनतम मान 14.71 से अधिक है।

**परिणाम**

उच्च, औसत और निम्न सृजनशीलता समूह के बालकों की शैक्षिक उपलब्धि में सार्थक अन्तर है।

**निष्कर्ष**

उपरोक्त परिणामों के आधार पर निष्कर्ष स्वरूप में कहा जा सकता है कि उच्च, औसत एवं निम्न सृजनशीलता के बालकों की शैक्षिक उपलब्धि पर सृजनशीलता का प्रभाव पड़ता है।

**भावी अनुसंधान हेतु सुझाव**

1. ग्रामीण तथा शहरी क्षेत्रों के विद्यार्थियों की सृजनशीलता का शैक्षिक उपलब्धि पर प्रभाव का अध्ययन किया जा सकता है।
2. शिक्षकों की सृजनशीलता का प्रभाव विद्यार्थियों की शैक्षिक उपलब्धि पर किस प्रकार पड़ता है, इस विषय पर अध्ययन किया जा सकता है।

**संदर्भ-**

1. Ivcevic, zorana (2010), Emotional Intelligence and Emotional Creativity journal of persononality, Vol. 75, issue 2, p. 199-235
2. Marjori, Banks Kevin (2006), Academic Achievement Intelligence and Creativity : A Regression surface Analysis, Multixariate Beahvioural Research, Vol II, Issue I, Jan, P. 105-118

लालबहादुर शास्त्री स्कूल, 96 शान्ति नगर, दमोह नाके के पास, जबलपुर (म.प्र.)